स्व० गणेश वासुदेव मावलंकर

१९५८
सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मडल,
नई दिल्ली

पहली बार : १९५८
मूल्य दो रुपये

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाशित करते हुए हमे एक ओर प्रसन्नता अनुभव होती है तो दूसरी ओर वेदना भी। प्रसन्नता इसलिए कि इतनी भावपूर्ण एव ऐतिहासिक महत्व की पुस्तक पाठको को सुलभ हो रही है, वेदना इसलिए कि इसके लेखक अब इस ससार में नही है। दादासाहब मावलकरजी की 'मडल' के प्रति बडी आत्मीयता थी। उनका परामर्श एव मार्ग-दर्शन हमे बराबर मिलता रहता था। जब हमने उनकी 'मानवता के झरने' पुस्तक निकाली, तब तो वह सबध-सूत्र और भी दृढ हो गया। दादासाहब की बडी इच्छा थी और हम भी चाहते थे कि यह पुस्तक उनके जीवन-काल में प्रकाशित हो जाती, लेकिन भगवान को यह मजूर न था। वह अकस्मात चले गये।

इस पुस्तक मे उन्होने गाधीजी के सपर्क के अपने सस्मरण दिये है। पाठक जानते है कि दादासाहब उन इने-गिने व्यक्तियो में से थे, जिन्हे गाधीजी के निकटतम सपर्क में आने, उनसे प्रेरणा लेने तथा उनकी विविध प्रवृत्तियो में अपना योग देने का दुर्लभ अवसर मिला था। अपने अधिकाश सस्मरण उन्होने उन चिट्ठियो पर आधारित किये है, जो उन्हे समय-समय पर गाधीजी से प्राप्त हुई थी अथवा जो उन्होने गांधीजी को लिखी थी। उन चिट्ठियो को भी उन्होने उद्धृत किया है। इस प्रकार ये सस्मरण बहुत ही प्रामाणिक है। पृष्ठभूमि के साथ दिये जाने के कारण पत्रो का मूल्य पाठको के लिए कई गुना हो गया है, कारण कि उनसे हमारे राष्ट्रीय इतिहास की अनेक घटनाओ पर प्रकाश पडता है।

दादासाहब की लेखन-शैली से पाठक भली भाति परिचित है। छोटी-से-छोटी बात को भी रोचक ढग से कहने की उनमे विलक्षण क्षमता थी। उनकी उस शैली का रस पाठको को इस पुस्तक मे भी मिलेगा। सारी पुस्तक इतनी सजीव है कि पाठक बिना आद्योपात पढे छोड नही सकते।

हमे आशा है कि पुस्तक का सर्वत्र आदर होगा और उसे अधिक-से-अधिक हाथो मे पहुचाने मे पाठको का पूरा सहयोग प्राप्त होगा।

पुस्तक का मूल गुजराती से अनुवाद श्री शकरलालजी तथा शोभालालजी ने किया है। इसके लिए हम इनके आभारी है।

—मत्री

विषय-सूची

मेरे संस्मरण

: १ :

गृहस्थ-जीवन की उषा

सन १६०५ मे मै गुजरात कालेज में प्रीवियस—प्रथम वर्ष—का विद्यार्थी था। उन्ही दिनो मार्च में मेरा पहला विवाह हुआ था। उस समय मेरी आयु सोलह वर्ष की थी और मेरी पत्नी की आठ वर्ष की। हम दोनो एक-दूसरे को वचपन से ही जानते थे। मेरी पत्नी की सगी चाची मेरी सगी मौसी होती थी। मेरी मौसी बाल-विधवा थी, इसलिए उनकी देवरानी के सब बालको का पालन-पोषण उन्हीके पास हुआ था और उन्हीको 'वे मा कहते थे। मेरी मा और मौसी जब अपने पीहर बडौदा में रहती थी, तो हम सब बालक भी उनके साथ रहते थे और इस प्रकार मैं अपनी पत्नी को ठेठ वचपन से पहचानता था। हम दोनो के बीच अच्छा ममत्व था। मेरी माता और मौसी की यह इच्छा थी कि हम दोनो का आपस में विवाह हो जाय। और यद्यपि विवाह क्या चीज होती है, यह मैं कुछ समझता नही था, फिर भी मेरी पत्नी जब दो-तीन वर्ष की हुई और बोलने लगी, तभी से सभी संबधियो ने उसे यह सिखाना शुरू कर दिया था कि वह मेरी पत्नी है। इसलिए सगे-सबधी मुझे विनोद में उसका पति कहकर हम दोनो का खूब मजाक उडाते थे और खुश होते थे। ज्यो-ज्यो मेरी उम्र अधिक समझने लायक होती गई, त्यो-त्यो मैं इस बहुचर्चित सगाई से सकुचाने लगा और उसके साथ बोल-चाल के प्रसग भी टालने लगा। पर वह बेचारी बहुत छोटी उम्र की होने की वजह से कुछ समझती नही थी, इसलिए सगे-संबधियो के उकसाने से बराबर मेरे पास बातें करने आती। इससे मैं कभी-कभी उससे चिढ भी जाता था।

इस तरह विवाह-विधि सपन्न होने से पहले ही हम एक-दूसरे से विवाह कर चुके थे। हम दोनो में से एक को भी पति-पत्नी-धर्म का खयाल नही था, फिर भी एक-दूसरे के प्रति खूब भावना और लगन थी। उस समय के रिवाज के अनुसार कन्या के आठ वर्ष की होते ही विवाह-विधि पूरी

कर दी गई। दापत्य-जीवन उसके कई वर्ष बाद प्रारभ हुआ। इस बीच वह खुले तौर पर ससुराल रहती और महीने-दो-महीने रहकर पीहर चली जाती। बचपन से ही परिचित होने के कारण उसके लिए ससुराल और पीहर में कोई अतर नही था। मेरी मा का उस पर एक पुत्री के समान स्नेह था और हमारे घर के सभी लोग उसके प्रति अपने घर की लडकी के समान ही भाव रखते थे। कोई उसे बहू मानता ही न था।

ऐसे मधुर और आनदमय सयोगो के बीच मेरे विवाहित जीवन की शुरुआत हुई। मई सन १९१६ में मेरी कन्या कमला का जन्म हुआ। पुत्र-जन्म की तीव्र इच्छा होते हुए भी किसीको इस बात से जरा भी दुख नहीं हुआ। लंबे अरसे के बाद कुटुब में एक बालक आया, इसी बात का आनद सारे कुटुब में छाया हुआ था।

उस समय मैं अपने वकालत के धधे में ठीक ढग से जम रहा था। सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के भी उचित अवसर मिलते ही रहते थे। उन दिनो गुजरात की एक पुरानी राजनैतिक संस्था 'गुजरात सभा' के नाम से चली आ रही थी। सन १९१६ में मैं उसका सहकारी मत्री चुना गया। सन १९१६ और १९१७ में गुजरात में जो राजनैतिक सम्मेलन हुए, उनके कार्यो में मैने पर्याप्त भाग लिया। सन १९१८ के इनफ्लुएजा और अकाल के सेवा-कार्य में मेरा जबरदस्त हिस्सा रहा। सन १९१७ में महात्माजी गुजरात सभा के अध्यक्ष हुए। इससे उनके और मेरे बीच अत्यत निकट का और प्रगाढ सपर्क स्थापित हुआ। वह मुझे अपनी मडली का ही एक आदमी समझने लगे।

इस प्रकार कौटुबिक, व्यावसायिक और सार्वजनिक—सभी—क्षेत्रो में मैं सौभाग्यशाली था, लेकिन विधि की लीला अगम्य है। जवान उम्र, पर्याप्त कमाई, सार्वजनिक जीवन में प्रतिष्ठा और प्रेम तथा सब प्रकार से सुलक्षणा जीवन-सहचरी; इन सब सयोगो के बीच कही मैं अपने जीवन के आदर्श से भटक न जाऊ और मायाजाल में फस न जाऊ, कदाचित् इसीलिए परमात्मा ने मेरे लिए एक भारी आपत्ति का निर्माण किया। आज चौंतीस वर्ष बाद (१९५३ में) इस आपत्ति के प्रसग पर नजर डालकर विचार करने से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे मैंने आपत्ति समझा, दुनिया-

दारी की दृष्टि से वह एक आपत्ति तो थी ही, किंतु मेरे आत्म-कल्याण और आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से परमात्मा ने मेरे ऊपर एक महान कृपा की। परमेश्वर न्यायवान और दयालु होने के कारण किसीको भी कष्ट में नही डालता और वह जो-कुछ भी करता है हित के लिए ही करता है, मेरा यह विश्वास दृढ हो गया है। 'विपदो नैव विपद' यही सत्य है।

जीवन के प्रारभ से ही विचार देश की निरतर सेवा करना था। यह निश्चय भी शुरु सन १९१३ से ही मैंने कर लिया था कि वकालत सिर्फ बीस वर्ष तक करूगा। कुटुब के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने और समाज मे इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए, जिससे सार्वजनिक कार्यों में सहायता पहुच सके, एव समाज के अच्छे तत्वो से सपर्क-साधन की दृष्टि से ही मैंने वकालत करने का विचार किया था। अतिम लक्ष्य तो लोक सेवा ही था और वह सेवा भी मैंने निष्काम रूप से करने का ही निश्चय कर लिया था। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इस मूलमत्र को मैंने उसी समय से धारण कर लिया था।

: २ :

उदय के पूर्व ही अंत

मेरी पुत्री चि० कमला के जन्म के कोई चार महीने बाद लगभग सितबर १९१९ में मेरी पत्नी को तीव्र रक्तहीनता की बीमारी हो गई। इससे पहले उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा और शरीर दृढ था। उसे इस तरह की कोई बीमारी होगी, इसकी किसीको कल्पना भी न थी, किंतु प्रसूति के लगभग चार महीने बाद से उसे मद ज्वर रहने लगा। कही उसे क्षय न हो, इस आशका के कारण हमने अपने मित्र डा० बाबूसाहब तळवळकर से उसकी बारीकी से जाच करवाई। इस बात से मेरे सबंधी और मित्र यह मानने लगे कि मुझे अपनी पत्नी के क्षयग्रस्त होने का सदेह हो गया है। पत्नी का स्वास्थ्य और शरीर देखकर मेरे शकाशील स्वभाव का वे मजाक भी उडाने लगे। लेकिन सबको यह जानकर आश्चर्य हुआ कि डा० तळवळकर ने जाच करने के बाद कहा—"यह क्षय-रोग तो नही है,

लेकिन मुझे तीव्र रक्तहीनता की आशंका है। पहली प्रसूति के बाद बहुत-सी बहनें इस रोग की शिकार हो जाती हैं। ऐसी दशा में अहमदाबाद के गोरे सिविल सर्जन से जांच करवाकर इलाज करवाना जरूरी है।"

इसपर सिविल सर्जन कर्नल ड्यूक और डा० तळवळकर ने एक साथ जांच कर रक्तहीनता का ही निदान किया। सिविल सर्जन के उस समय के शब्द आज भी मुझे अच्छी तरह याद हैं। उन्होंने कहा—"मिस्टर मावलंकर, मुझे दुख है कि आसार बड़े खराब हैं।" यह सुनते ही मैं सहम गया। पत्नी की मृत्यु की कल्पना-मात्र से ही मुझे भारी आघात पहुंचा। उसकी बीमारी की तो अभी शुरुआत ही थी। उसके मृत्यु-पर्यंत बढ़ने में लंबा समय लग सकता था, लेकिन मेरा मन बहुत बेचैन था। मैंने कर्नल से पूछा—"क्या ऐसी बीमारी में कोई स्त्री जीवित नहीं रह सकती?" सहानुभूतिपूर्वक उन्होंने कहा—'नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है; लेकिन संभावना बहुत ही कम रहती है। दो हजार में से एकाध ही बच सकती है।" मैंने कहा—"ऐसी दशा में दो हजार में से यह मामला भी एक अपवाद बने, उसके लिए मैं सब प्रयत्न करने के लिए तैयार हूं। बताइये मुझे क्या-क्या करना चाहिए?' प्रयत्न कर देखना तो मेरे हाथ में है और भविष्य भगवान के हाथ में।' उसके बाद कर्नल ड्यूक और डा० तळवळकर ने कहा—'इस बीमारी के लिए कोई दवा अथवा दूसरा कोई उपाय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। प्राकृतिक उपचार से जो-कुछ हो जाय वही ठीक है। तुम अपनी पत्नी को अहमदाबाद से मिरज-जैसे ठंडी हवावाले और समुद्र से ऊंची सतहवाले स्थान पर ले जाओ। वहां पर डा० वानलेन के मिशन अस्पताल में रखने की और सामान्य दवा-दारू की व्यवस्था हो सकेगी। वहां रहकर संयोग से आराम हो जाय तो भाग्य की बात समझनी चाहिए।"

यह सुनते ही मैंने अपनी पत्नी को मिरज ले जाने का निश्चय किया। इस निश्चय को कार्य रूप में परिणत करना बड़ा कठिन काम था; किंतु पत्नी की नीरोगता ही उस समय मेरा ध्येय था। अतः इन कठिनाइयों का सामना करना ही था। डाक्टरों के घर से बाहर होते ही मैंने अपना विचार अपनी मां के सामने प्रकट किया। मां ने इसमें मेरा पूरा साथ दिया। चार महीने की बालिका के साथ स्वयं मिरज जाकर वह वहां

रहने के लिए तैयार हो गई। इस प्रकार हम उसे १९१९ के सितबर के अत मे मिरज ले गये। वहा अस्पताल में भरती कराया और हम सब लोग गाव मे घर बसाकर रहने लगे। भोजन और उसके साथ ही घर का अन्य काम मेरी माता, मौसेरी बहन स्व० शाताबाई और मेरी पत्नी की बडी बहन स्व० सुदराबाई करती और इन्हीमें से कोई एक देर-सवेर अस्पताल मे पत्नी के साथ रहती थी।

इस प्रकार १९२० के मार्च तक हम लोग मिरज रहे। इस बीच मेरी पत्नी के खून चढाने का भी उपचार किया गया। डाक्टर लोग जो-जो उपचार जानते थे, वे सभी किये गये, किंतु अत मे हमें इसमे सफलता नही मिली। मेरी यह आशा और प्रयास कि यह मामला दो हजार में से एक अपवाद क्यो न हो, सब धूल मे मिल गये। अत में १९ मार्च १९२० के दिन अत्यत यातना सहने के बाद मेरी पत्नी ने बाईस वर्ष की युवावस्था में देह-त्याग किया। हम सबको अपार दुख हुआ। उसकी बीमारी के अतिम आठ दिनो मे तो मुझे कुछ सूझता ही न था और आखो से अश्रु-धारा बहती रहती थी। किंतु मेरी पत्नी ने इस बीमारी मे बहुत ही साहस और विवेक से काम लिया। ३ मार्च १९२० को उसने बिस्तर पर पडे-पडे पेंसिल से अपने हाथ से मुझे लिखा.

"सेवा मे,

"आपके पत्र और तार भी मिले। आपके नियमित आनेवाले पत्रो से प्रतीत होता है कि मेरी बीमारी के कारण आप वहा (अहमदाबाद में) बेचैन रहते हैं। इस तरह बेचैन रहने-जैसी कोई बात नही है। पूज्या बाई (मा को हम सब लोग 'बाई' कहते थे) के पत्र आपके पास पहुचते रहते हैं, इसलिए मैं आपको अलग पत्र नही लिखती। इसके सिवा यहा दुपहर को सख्त गरमी पडती है, इससे घबराहट होती है और फलस्वरूप लिखने में कष्ट होता है, इस-लिए भी नही लिखा। इस कारण आप अपना मन दुखी करेंगे तो दिन बिताना बहुत मुश्किल हो जायगा। मेरा स्वास्थ्य बहुत सुधार पर है। कोई कुछ भी लिख देता है वह पढकर आप चिता करने लगें, यह मुझे जरा भी अच्छा नही लगता। खाने-पीने के सबध में चिता करके आप इतना लिखते है, लेकिन दस्त और उल्टी का कोई ठीक हिसाब रहता हो, तो इस विषय

में कुछ किया जा सकता है । कभी दो-चार दस्त हो जाते हैं, कभी एक ही । वह भी बधा हुआ और रंग भी ठीक होता है । किसी समय तो घंटे भर में दो-तीन दस्त हो जाते हैं अथवा फिर कभी दिन भर में सिर्फ एक ही बार। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रहदशा ही लगी है, उसीके कारण यह सब हो रहा है । इसीलिए तो मैं लिखती हूं कि मेरी इतनी चिंता न किया करो । एक चम्मच चावल का माड लेती हू । और कुछ नहीं । इस विषय में आपको भरोसा होने की बात आपने कही थी । ऐसी दशा में दूर रहकर चिंता करने से मेरे मन को आपकी ही चिंता बहुत होती है और उससे बेचैनी प्रतीत होती है । आप लिखते हैं कि आपको वहां चैन नहीं पडता । यह पढकर मन में यह लगता है कि आप जैसे काम-धंधेवाले को भी यदि ऐसा होता है, तो मुझ-जैसी चौबीसों घंटे बिस्तर पर पड़ी रहनेवाली का जी उकता जाने में आश्चर्य की क्या बात है ? चि० कमला की याद के कारण आपका समय नहीं बीतता होगा; किंतु इस समय हमारी दशा ही ऐसी बैठी है कि इस तरह दिन गुजारने पड़ते हैं। मुझे, पूज्या बाई को तथा अन्य सभी को ऐसा ही प्रतीत होता है। अखंड सौ० शांताबाई के जाने के बाद क्या होगा यह तथा तब तक की रोज की बातें जानने को मिल ही जायगी कुंजाबाई, बाह्मा, कनुबाई, दादा, शांताबाई आदि सब अच्छी तरह हैं । चि० कमला सहारे के साथ धीरे-धीरे खड़ी होती है, खेलती और तमाशे करती है । कृष्णाबाई तथा मणिबहन[1] को आशीर्वाद। लक्ष्मीबाई को नमस्कार। पत्र मिलेगा ही । मनोरमा"

इसके बाद जब मैं मिरज गया, तब अपनी बहन के सामने मेरे विषय में चिंता व्यक्त करते हुए उसने कहलवाया—"इनसे कहिये कि ये दुखी न हों। मैं स्वयं इनके सामने बोल नहीं सकती । इनके सामने बोलते हुए मैं विह्वल हो जाती हूं और इनका चेहरा देखकर हृदय में कुछ-का-कुछ होने लगता है। इसलिए आप ही मेरा यह संदेश इनसे कहिये ।"छोटी बच्ची तो नौ महीने की ही थी, लेकिन पत्नी की बीमारी के कारण वह हम सबके साथ हिल-मिल गई थी।

२० मार्च १९२० के दिन मिरज में हम जिस घर में रहते थे, वहां

---

1. स्व० सरदार पटेल की सुपुत्री ।

मेरी पत्नी ने देहत्याग किया। हम सबके दुख का कोई पार नही था। ईश्वर की इच्छा के सामने मनुष्य का क्या वश? किंतु इस दुख मे समाधान की बात सिर्फ यही थी कि अपने बस भर हमने सबकुछ कर लिया था। मेरे जीवन का एक अग पूरा हुआ।

दूसरे दिन हम सब लोग बबई वापस आ गये। मेरी ससुरालवाले बबई मे ही रहते थे। मेरी मा को अहमदाबाद जाना इतना भारी प्रतीत हुआ कि उन्होने गरमी भर बबई में ही अपनी बहन (मेरी मौसी और मेरी पत्नी की चाची) के साथ रहने का निश्चय किया, इसलिए हम सब बबई मे ही रहे। मैं जब-तब अहमदाबाद हो आता था।

: ३ :

पुनर्विवाह की चर्चाएं

पत्नी की मृत्यु के बाद के लगभग तीन वर्षों में मैं सार्वजनिक जीवन मे गाधीजी के गाढे सपर्क मे आया था। इसलिए गुजरात मे गाधीजी के पथ-प्रदर्शन में चलनेवाले कामो में एक भी काम ऐसा नही था, जिससे गुजरात-सभा के मत्री के रूप मे अथवा दूसरी तरह, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, पूरी तरह से अथवा थोडे-बहुत अश मे ही मेरा वास्ता न रहा हो। मेरे मन मे लोक-सेवा की भावना काफी प्रबल थी। असली समय पर गृहस्थी उजड गई और अकेली कन्या, पुत्र का सर्वथा अभाव—यह सब सोचकर मेरी माता और मौसी को ही नही, प्रत्युत मेरी साली को भी यही लगा कि मुझे फिर से विवाह करना ही चाहिए। उन सबका यह भी विचार था कि यदि मैं बिना विवाह किये इसी तरह स्वतत्र रहा, तो गाधीजी के सघ मे शामिल होकर निरा साधु बन जाऊगा। यह बात नही थी कि मेरी स्वर्गीय पत्नी के प्रति उनके मन में प्रेम न हो, किंतु वे मेरे भविष्य के सबध मे अधिक चिंतित थी। हिंदू भावना के अनुसार पुत्र के द्वारा ही वश चालू रहता है, इसलिए विवाह करना चाहिए, यह इन सबकी दृष्टि से सही और सीधा मार्ग था। हमारी जाति मे रुपये-पैसे की दृष्टि से सुखी निर्व्यसनी और शिक्षित वर बहुत कम मिलते थे, इसलिए विवाह-योग्य

कन्याओं के सगे-संबंधियों ने मेरे सगे-संबंधियों के पास सगाई के लिए संदेश भेजना शुरू कर दिया था। ये सब मंत्रणाएं मेरी जानकारी के बिना बराबर चल रही थीं और मेरी मान्यता है कि उनका यह भी विचार रहा होगा कि यदि कुल-शीलवाली अच्छी कन्या मिल जाय तो उसके बाद दादासाहब से पूछेंगे। मेरी मां का यह भी विश्वास था कि वह स्वयं जो चाहेंगी, लड़का उनके विरुद्ध नहीं जायगा।

साथ ही मेरे मन स्थिति भी ऐसी नहीं थी कि मैं सदा के लिए फिर से विवाह न करने का निश्चय कर सकूं। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता था कि मैं सात्विक ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता हूं; किंतु स्वयं मेरे मन को भरोसा नहीं होता था। पुत्र से वंश जारी रखने की मेरी कोई भावना नहीं थी। पुत्र और पुत्री मुझे बराबर ही लगते थे। यदि मेरे पुत्री के बजाय पुत्र हुआ होता, तो भी मैं दूसरी बार विवाह करता या नहीं, यह भी एक प्रश्न था। किंतु एक बात का तो निश्चय कर लिया था कि चाहे कुछ भी हो, पत्नी की मृत्यु के बाद कम-से-कम एक वर्ष तक पुनर्विवाह नहीं करूंगा। उस स्वर्गीय, सुशील और प्रेम करनेवाली पत्नी को आज भी भूल नहीं सका हूं। तब उस समय मृत्यु के बाद तुरंत ही किस तरह भूल सकता था?

इस तरह मेरी माताजी के और मेरे विचार भिन्न-भिन्न दिशाओं में बह रहे थे और मुझे इन दोनों का समन्वय कर इस तरह आचरण करना था जिससे दोनों की ही भावनाएं पूरी हो सकें। कइयों को यह प्रश्न सर्वथा मामूली और सहज ही समाधान-योग्य प्रतीत हो सकता है और उस समय भी कई मित्रों को ऐसा लगता था; किंतु अपने जीवन में मैंने माताजी के प्रति अपने कर्तव्य को सबसे श्रेष्ठ धर्म मान रखा था। कोई भी व्यक्ति माता के ऋण को किसी भी प्रकार पूरी तरह नहीं चुका सकता। इसलिए मैंने अपने जीवन का यह नियम बना लिया था कि मेरी मां के विचार मुझसे भिन्न हों तो भी उन्हें समझाने का प्रयत्न किया जाय और फिर आगे बढ़ा जाय। मैं यह मानता हूं कि मेरे इस नियम के परिणाम अत्यंत ही मधुर फलदायी हुए। जिस प्रकार मुझे मां के प्रति लगाव था, उसी तरह मां को मेरी भावनाओं और विचारों के

प्रति अत्यत लगाव था और इसलिए वह मेरा मन रिझाने के लिए बहुत (अपार भी कहा जा सकता है) रियायतें करती रहती थी। अपनी इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण मा को अपने आचरण से इस बात का आश्वासन देने के लिए कि मैं गाधीजी के साथ साधु हो जानेवाला नही हू, मैंने अपने मन मे यह निश्चय किया कि वह भले ही मेरा विवाह कराने की बात चलाती रहें, आखिर लडकी की पसदगी-नापसदगी तो मुझपर ही है। इसलिए एक वर्ष तक जो भी लडकिया सामने आयेंगी, उन्हें नापसद करता जाऊगा। इस तरह के विचारो से कन्याओ के प्रति तो अन्याय होता ही था, कदाचित माताजी के प्रति भी प्रत्यक्ष अवहेलना के बजाय आडी-टेढी ठगाई होती थी। कुछ भी हो, किंतु उस समय की अपनी समझ और बुद्धि के अनुसार मैंने बीच का रास्ता स्वीकार किया था। उससे बाहरी दुनिया तो यही समझती थी कि दादा की मा दादा के तुरत ही फिर से विवाह के लिए तैयार है और दादा भी उसका कहना मान लेनेवाला है।

: ४ :

गांधीजी का प्रेम और परामर्श

मेरे दूसरे विवाह की इस तरह की बात अहमदाबाद पहुची और सदा की तरह इस बात मे काफी नमक-मिर्च लगाया गया। आश्चर्य की बात तो यह थी कि मेरे कितने ही मित्रो ने इस विषय में स्वय मुझसे बिना कुछ पूछ-ताछ किये और बिना सचाई जाने ही गाधीजी के पास शिकायत की तरह नही, प्रत्युत असतोष के रूप में यह बात रखी—"देखिये, दादा-जैसा हमारा एक कार्यकर्ता पत्नी की मृत्यु होते ही उसे भूलकर तुरत विवाह करने के लिए तैयार हो गया है। स्त्री के प्रति कितना निरादर, कितनी निष्ठुरता है!"

यह हाल सुनकर गाधीजी ने 'नवजीवन' मे "पत्नी के प्रति कर्तव्य" विषयक एक लेख भी लिखा। उस लेख मे मेरे नाम का उल्लेख अथवा कोई सकेत नही था और इसलिए इसने पाठक-वर्ग को मेरे सबध में किसी प्रकार

की कोई खबर मिलती हो, सो बात नही थी। उनका लेख तो सामान्य रूप का था। मुझे भी उस लेख की जानकारी बाद में हुई।

अपने सार्वजनिक एव कौटुबिक जीवन में मुझे इस प्रकार के बहुत से अनुभव हो चुके है कि अपने साथ मित्रता का दावा करनेवाले और साथ ही सच्चे मित्र भी, स्पष्ट और खुले हृदय से बात नही करते। कही वह अप्रिय न हो, इस भय से वे बात करने का साहस नही करते, किन्तु अप्रत्यक्ष-रूप में दूसरो के साथ बाते करके बात आडे-टेढे रूप में फैला देते है और अपने मित्र की रक्षा करने के बजाय उसकी बदनामी में सहायक होते है। मै स्वयं यह मानता हू कि अपने मित्र को कडवी लगने पर भी सत्य, किंतु हित की, बात स्पष्ट रूप से उसके सामने रखनी चाहिए और मैंने सदा इसी तरह आचरण करने का प्रयत्न किया है। फलस्वरूप कई बार मैंने मित्रो को न रुचनेवाली बातें कही है और इस-लिए गलतफहमी का शिकार बना हू।

इस अवसर पर मेरे किसी भी मित्र ने मुझसे जरा-सी भी बात नही की। न मुझसे पूछा, न मेरी स्थिति और विचार जानने का प्रयत्न किया। बस जो बात सुनी, वही गाधीजी के पास रखकर अपना कर्तव्य पूरा करना समझ लिया, किंतु गाधीजी ने हर तरह मुझसे अत्यत उच्च होते हुए भी मुझे अपना माना और इसलिए उन्होंने वैशाख कृष्णा अष्टमी, १९२० को मुझे इस विषय में निम्न पत्र लिखा

"इस पत्र के लिए मुझे क्षमा करना। मुझसे रहा नही जाता, इसी-लिए यह लिख रहा हू। कल मैंने सुना कि तुम विवाह करने की तैयारी कर रहे हो। मुझसे यह सहन हो ही नही सका। क्या तुम एक वर्ष का शोक न पाल सकोगे? जिस स्त्री को तुमने अपनी अर्द्धांगिनी कहा, जिसके शरीर के साथ तुम्हारा शरीर घुल-मिल गया था, उसकी स्मृति को तुम किस तरह भूल सकते हो? क्या हम कुछ संयम रखने के लिए बाध्य नही हैं? सुना है, तुम्हारी माताजी बहुत आग्रह कर रही हैं। इसमें माता की पुकार भी क्या काम आ सकती है? हम अपनी मर्यादा का किस तरह उल्लघन करें? हमारी शिक्षा का क्या होगा? अब मैं अधिक नही लिखूगा। प्रभु तुम्हें सुमति दे। एक मित्र के नाते मेरा अधिकार और कर्तव्य तुम्हें

चेतावनी दे देना है। किंतु करना वही जो तुमने सोचा है। यदि तुम अपने कार्य में दोष देख सको तो मेरे-जैसे के साहस और मदद से तुम उस दोष से मुक्त होना। यदि अपना कार्य तुम्हे ठीक प्रतीत होता हो, तो मेरी और सारे ससार की सलाह को एक तरफ रख देना। मुझे क्षमा करोगे न ?"

इस पत्र में गाधीजी के स्वभाव के अनेक पहलुओ का दर्शन होता है। अपने साथियो के प्रति प्रेम और साथियो का आचरण सदा उचित ही हो, यह देखने की उनकी उत्कठा इसमे स्पष्ट दिखाई देती है। अपने को मेरा एक मित्र बताकर उन्होने अपने साथियो के प्रति कितनी उदारता प्रकट की है! उन्होंने सयम पर जोर दिया है और साथ ही अपने जीवन में माता का आग्रह किस हद तक चल सकता है, उसकी मर्यादा भी दिखाई है। किंतु सबसे अधिक महत्व की बात तो यह है कि मुझ-जैसे एक छोटे और नौजवान साथी एव अनुयायी पर अपना मत जबरदस्ती लादने का उन्होंने जरा भी विचार नही रखा। मैं मानता हू कि गाधीजी की इस वृत्ति मे ही उनकी सगठन-शक्ति का बीज छिपा हुआ था। उनके साथ के प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार पूरे-पूरे बताने की स्वतत्रता थी। इतना ही नही, प्रत्युत उन विचारो के अनुसार आचरण करने की भी पूरी छूट थी। इसी कारण वह अपना एक सुदृढ मडल बना सके। उन्होंने सबके हृदय जीत-कर उनमें अपना स्थान जमाया और अनेक मत होते हुए भी, विविध प्रकार के व्यक्तियो को साथ लेकर एकमत से स्वराज्य का काम आगे बढाया। इस कहानी में गाधीजी की अहिंसा का, उदारता का और सहिष्णुता का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

गाधीजी का यह पत्र पाने के बाद मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए एक विस्तृत पत्र उन्हें लिखा। दुर्भाग्य से मेरे पास उसकी नकल नही है और गाधीजी ने भी मेरा जवाब पढकर, वह किसी दूसरे के हाथ में न न पड जाय, इस खयाल से उसको फाड डाला। गाधीजी का ज्येष्ठ शुक्ला पचमी का लिखा हुआ उनका जवाब यह है :

"तुम्हारा पत्र मिला। पढा, वैसे ही फाड डाला। तुम्हारे धर्म-सकट को मैं समझता हू। मेरे लिखे का तुम कोई गलत अर्थ न लगाओ। मेरे लिए इतना ही काफी होना चाहिए। मेरी सलाह के अनुसार आचरण किया

ही जाय, इसकी मै सदा आशा रख ही नही सकता । मैने अपने धर्म का पालन किया है । अब मै निश्चित हू । यह निश्चित मानना कि तुम्हारे प्रति मेरे भाव में जरा भी कमी नही आने पायगी ।"

यह छोटा-सा पत्र भी गाधीजी के स्वभाव का अच्छी तरह दिग्दर्शन कराता है । अपने से भिन्न मत रखनेवाले हो अथवा अपने विचारो के अनुसार न चल सकते हो, उनकी स्थिति समझकर उनके साथ सहानुभूति रखना, साथियो का मडल बनाने के लिए यह भी एक बहुत बडा आवश्यक गुण है । मनुष्य को लज्जित कर, उसका तिरस्कार कर, उसके मन अथवा शक्ति के विपरीत काम कराने की अपेक्षा रखने में ही झगड़े और विरोध के बीच छिपे रहते है । 'मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया । इतने से ही मैं सतुष्ट हू ।' यह जताकर गाधीजी यह मधुर आश्वासन देते हैं कि 'तुम्हारे प्रति मेरे भाव जरा भी कम होनेवाले नही है ।'

और उन्होने इस आश्वासन को अपने निर्वाण के अतिम क्षण तक निभाया, इसका सुखद अनुभव और स्मृति मुझे बनी हुई है ।

: ५ :

ट्रस्ट-दस्तावेजों की रचना

गाधीजी आश्रम की और अन्य प्रवृत्तियो के बारे में मुझे विश्वास मे लेकर, अगर कोई काम मेरे योग्य होता, तो उसे करने के लिए कहते । मै कानून का जानकर था, इसलिए आश्रम का जो भी कानून-सबधी काम होता, वह मुझे सौंपते । इस प्रकार आश्रम और नवजीवन ट्रस्ट के दस्तावेज तैयार करने का काम मुझे ही सौंपा गया । सन १९४० में गाधीजी के वसीयतनामे के कागज पर भी मैं दृष्टि डाल गया था और मैंने उसमें कुछ सुधार भी सुझाये थे ।

एक तरह से देखें तो यह ट्रस्ट-दस्तावेज तैयार करने का काम ज्यादा अटपटा अथवा कठिन न था । मै तो अपनी बुद्धि के अनुसार सामान्य रीति से जिस नमूने और जिस तरह के ये ट्रस्ट-दस्तावेज लिखे जाते है, उसी तरह आश्रम के ट्रस्ट-दस्तावेज का एक सविस्तार और लबा मसविदा तैयार

करके गाधीजी के पास ले गया था ।

यह मस्विदा लेकर जब मैं गाधीजी के पास पहुचा, तो उन्होने उसपर एक दृष्टि डालकर मुझसे कहा—"इतना लबा और इतना विस्तृत लिखने की क्या जरूरत है? यह तो सक्षिप्त होना चाहिए।" इस पर मैंने कहा—"गाधीजी, जिस प्रकार से ये दस्तावेज यहा (अहमदाबाद और हिंदुस्तान में) साधारणतया लिखे जाते हैं और उनमें जिन बातो का सामान्यत समावेश होता है, उसीके अनुसार मैंने इस दस्तावेज की रचना की है। अब आप जैसा कहें, उसके मुताबिक इस मस्विदे में हेर-फेर करू या फिर नये सिरे से लिखू।"

इस प्रसग से मुझे वकालत की अथवा कानूनी दस्तावेज लिखने की एक नई दृष्टि मिली। कोई भी दस्तावेज, चाहे वह करार, भागीदारी, वसीयत, ट्रस्ट या अन्य किसी किस्म का हो, अविश्वास के आधार पर तैयार किया जाता है। दस्तावेज की रचना और भाषा में इस प्रकार का भाव रहता प्रतीत होता है कि जिन व्यक्तियो के बीच दस्तावेज लिखा जाता है, वे कही उसका पालन करने के बजाय उसे तोडने का प्रयत्न न करें। और इसलिए दस्तावेज से मुकरने का दोनो पक्षो को जरा भी अवसर न देने की दृष्टि मे उसमें तमाम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातो का समावेश करने का प्रयत्न किया जाता है। फलस्वरूप दस्तावेज मे बहुत ज्यादा ब्यौरे का समावेश होने के कारण वह बहुत लबा हो जाता है। इसके बावजूद भविष्य मे कौन-कौन-सी कठिनाइया या मतभेद उठ खडे होगे, उन सबका कारगर और पूरा खयाल करना मानव बुद्धि के लिए असभव ही होता है। अतः जब मतभेदो के प्रसग उपस्थित होते है, तो ये दस्तावेज झगडो को निपटा नही पाते, बल्कि झगडो और अप्रमाणिकता को उत्तेजन ही देते हैं। इस प्रकार के लबे और बारीक दस्तावेजो मे अकल्पित अर्थ निकाले जा सकते है। वसीयतनामे अथवा भागीदारी के दस्तावेजो या दूसरे दस्तावेजो का कैसा अर्थ निकाला जा सकता है और अदालतो मे गये हुए मामलो में कैसा अर्थ किया जा सकता है, यह कानून के जानकार अच्छी तरह जानते हैं। गाधीजी के सुझावो ने इस प्रकार मुझे नई दृष्टि प्रदान की।

गाधीजी ने कहा—"इतनी सारी सूक्ष्म धाराएं, इतनी सारी शर्तें और

इतना सारा विस्तार किसलिए करना चाहिए ? आप दस्तावेज को चाहे जितना लबा और विस्तृत करे, किंतु अंत में तो जिन व्यक्तियो को उस पर अमल करना होगा, उन्ही पर उसकी सफलता निर्भर करेगी न ? दक्षिण अफरीका में जब दस्तावेजो की रचना कराने के लिए लोग मेरे पास आते, तो मैं उनसे पूछता—'भाई, ऐसा कोई है जिस पर तुम्हारा विश्वास हो। अगर हो तो उसे पसद करके उसपर भरोसा रखो। अपनी इच्छा प्रकट करने के लिए जितना लिखना हो उतना लिखो। सूक्ष्म व्यौरे में पड़ने से तो मतभेद पैदा होने पर यह व्यौरा सहायक होने के बजाय झगडे का मूल बन जाता है और वकील-बैरिस्टरो के लिए कमाई का साधन हो जाता है।' अत मैं वसीयतनामे अथवा भागीदारी के दस्तावेजो में केवल काम की बात लिखकर उन्हें सक्षिप्त में कर देता था।'

गाधीजी की यह बात भली प्रकार मेरे गले के नीचे उतर गई। किंतु पेशेवर वकील की हैसियत से प्रचलित परपरा से बाहर निकलने में स्वभावत मुझे समय लगा। आश्रम के ट्रस्ट का जो दस्तावेज पहले लिखा, उसमें गाधीजी की बताई केवल काम की बातें ही लिखी थीं। कानूनी सलाहकार के रूप में मुझे इसमें एक नई शिक्षा मिली।

किंतु गाधीजी ने जो दूसरी एक बात की, वह बहुत अटपटी और कठिन थी। आश्रम के ट्रस्ट में स्थावर संपत्ति होने से उसका ट्रस्ट दस्तावेज के बिना नही हो सकता था और दस्तावेज की भी रजिस्टरी कराना जरूरी था। इन दोनो बातो के बारे में गाधीजी को कोई तात्विक बाधा नही थी। किंतु दस्तावेज पर आश्रम की सपत्ति के हिसाब से जो सरकारी स्टाप का खर्च करना पडता, उसके लिए वह बिल्कुल तैयार न थे। नाम-मात्र का स्टाप खर्च करने मे उन्हें आपत्ति न थी। अत मेरे सामने एक बडा कानूनी पेच का सवाल उठ खडा हुआ—ट्रस्ट का दस्तावेज तो होना चाहिए, किंतु नाम-मात्र के स्टाप के साथ, विशेष खर्च के बिना।

अत मैंने इस बारे में कानूनी आधारो की खोज करना शुरू की। मैंने सोचा कि अपने को ट्रस्ट का दस्तावेज नये सिरे से नही करना है—अर्थात वह दस्तावेज ऐसा नही होना चाहिए कि जिसके द्वारा सपत्ति ट्रस्ट के अधीन सौंपी जाय, बल्कि यह मानकर कि आश्रम का ट्रस्ट काफी समय

से अस्तित्व में है, उसीकी घोषणा करनेवाला दस्तावेज सपन्न किया जाय। इसमे भी अनेक कानूनी वारीकिया थी, जिनकी यहा चर्चा करना आवश्यक नही है। इतना ही कहना चाहता हू कि घोषणासूचक दस्तावेज की रचना करने का काम काफी कठिन था। कानूनी आधारो, हाई-कोर्ट के फैसलो आदि को सावधानो के साथ पढा। किस प्रकार के शब्द दस्तावेज मे लिखे जाय तो वह घोषणासूचक दस्तावेज मान लिया जायगा, इस पर विचार किया। उसके बाद मैने पहला मस्विदा लिखा और उसको बार-बार आठ-दस मर्तबा पढा और जैसे-जैसे सूझता गया, उसमें सशोधन करता गया। इस प्रकार अत में बडे परिश्रम के साथ दस्तावेज का अतिम मस्विदा स्थिर किया। गाधीजी ने उसे अपनी स्वीकृति प्रदान की।

अब सवाल रहा स्टाप का। मै तो यह सोचता था कि पद्रह रुपये के नाम-मात्र के स्टाप के कागज पर दस्तावेज लिखा जाय और यही स्टाप कायदे के अनुसार काफी समझ लिया जाय। परतु दस्तावेज की रजिस्टरी कराते समय स्टाप के बारे में उप-रजिस्टरार आपत्ति उठाये और सपत्ति की कीमत के मुताबिक डेढ-दो हजार रुपये का स्टाप आवश्यक बताकर दस्तावेज को अपने पास रख ले, तो उतना स्टाप देना ही पडता। दस्तावेज लिखकर स्टाप के बारे में कलेक्टर की सम्मति लेने जाने में भी यही मुश्किल थी। कलेक्टर की सम्मति पहले लेने का प्रयत्न करू तो उसकी सम्मति के अनुसार स्टाप लगाना पडे। अगर सीधा, उप-रजिस्टरार के पास जाऊ और दस्तावेज वह अपने कब्जे मे कर ले, तो कायदे के अनुसार जितना स्टाप लगाना पडे, उसमे ग्यारह गुनी रकम देनी पडे। अत दस्तावेज का मस्विदा कानून को देखकर कानून की मर्यादा के भीतर लिखा तो जरूर, किंतु इस दस्तावेज को स्टाप के कागज पर लिखवाकर उसपर गाधीजी के हस्ताक्षर लेने की हिम्मत मुझे नहीं हो रही थी। खयाल होता था कि कही फस गये और गाधीजी की इच्छा के विरुद्ध स्टाप की बडी रकम भरनी पडी तो क्या होगा?

इसलिए एक बार फिर कानून की छान-बीन करने लगा। मुझे यह नियम मालूम था कि कोई भी दस्तावेज कलेक्टर के पास ले जाकर और पाच रुपये की फीस दाखिल करके दस्तावेज पर कितना स्टाप लगाना

जाय, उस बारे में उसकी सम्मति प्राप्त की जा सकती है और फिर उस सम्मति के अनुसार स्टाप लगाना आवश्यक होता है। किंतु पूर्वोक्त कारण से दस्तावेज के बारे में कलेक्टर की सम्मति लेने की मेरी इच्छा न थी। हां, मसविदा पेश करके उस मसविदे के मुताबिक दस्तावेज पर कितना स्टाप लगाना होगा, यह सम्मति प्राप्त करनी थी। इसमें भी कुछ कानून की जटिलता थी, किंतु वह बहुत साधारण थी। स्टाप कानून में जिस धारा के अंतर्गत कलक्टर की सम्मति के बारे में लिखा है, उसमें ये शब्द थे, "When any instrument, whether executed or not...is brought to the Collector..." अर्थात जब कोई दस्तावेज चाहे बाकायदा लिखा हो या नहीं...कलेक्टर के सामने लाया जाय...। इसमें executed or not (बाकायदा लिखा हो या नहीं) शब्दों का लाभ उठाकर मैं कलेक्टर मि० गैरेट के पास गया और उस मसविदे के बारे में अपनी सम्मति देने की प्रार्थना की। अब मि० गैरेट और उनके सचिव मेरी प्रार्थना पर चकित हो उठे। और सचिव ने तो कहना शुरू किया— "क्या मसविदे पर भी सम्मति दी जाती है? मसविदा तो मसविदा ही हुआ। उसे Document (दस्तावेज) किस प्रकार कहा जा सकता है? इस प्रकार का आवेदन तो आजतक किसीने नहीं किया।" इस पर मैंने कहा—"साहब, कानून की धारा में 'executed or not' शब्द हैं और मसविदा हुआ ऐसा दस्तावेज जो बाकायदा सम्पन्न नहीं हुआ हो। इसलिए मैं यह सम्मति चाहता हूं। इस मसविदे के अनुसार तैयार होनेवाले दस्तावेज को सम्पन्न करना हो तो कितना स्टाप लगाना होगा?" मेरी दलील सावधानीपूर्वक सुन लेने के बाद गैरेटसाहब ने अपना मत दिया—"ठीक है, इसपर मुझे अपनी सम्मति देना चाहिए।" कलेक्टर की कचहरी को एक नई बात जानने को मिली।

इसके बाद थोडे दिनों में उनकी सम्मति मिली कि १५ रुपये के स्टाप पर यह दस्तावेज किया जा सकता है। मुझे इस बारे में कई बार शंका होती रही कि कलेक्टर ने अपनी यह सम्मति केवल कानून के आधार पर ही दी है अथवा उसके पीछे कोई राजनैतिक दृष्टि भी थी। जो भी हो

दस्तावेज हमारी इच्छा के अनुसार सपन्न हो गया और १२-२-२६ को उसकी रजिस्टरी हो गई।

: ६ :

नवजीवन ट्रस्ट का दस्तावेज

आश्रम के ट्रस्ट का दस्तावेज हो चुकने के बाद नवजीवन ट्रस्ट का दस्तावेज बनाने का काम हाथ मे लिया गया। इस दस्तावेज के बारे मे विशेप अडचन नही पडी। गाधीजी के विचारो का मुझे पूरा पता था और दस्तावेज के स्टाप के बारे में आश्रम के दस्तावेज से रास्ता साफ हो गया था। किंतु इस दस्तावेज की रचना के सबध मे कितनी ही बाते अस्पष्ट होने के कारण गाधीजी के साथ प्रत्यक्ष चर्चा किये बिना यह काम होना असभव था। इस ट्रस्ट के उद्देश्य और आरभिक तथ्यो पर प्रकाश डालने-वाला विवरण स्वामी आनद ने तैयार किया था और बापू ने उसे स्वीकार किया था। मेरे साथ स्वामी आनद ने उस विवरण की बातो की चर्चा की थी। किंतु बाद मे बारडोली की जो लडाई चल रही थी, स्वामी आनद उसमें चले गये। उनके पीछे नवजीवन का काम भाई मोहनलाल मगनलाल भट्ट ने सभाला। उनके साथ चर्चा करके मै तथ्य सग्रह करता, किंतु कुछ बातो के बारे में गाधीजी के साथ चर्चा करना आवश्यक था और इसलिए दस्तावेज का मस्विदा अतिम रूप से तय करने का काम समय-समय पर स्थगित करना पडा।

इतने मे सन १९२९ का वर्ष आया और काग्रेस की बढती जानेवाली स्वराज्य की लडाई उग्र रूप धारण करने लगी। इससे गाधीजी को लगा कि नवजीवन ट्रस्ट दस्तावेज शीघ्र सपन्न होना चाहिए। उन्होने ६-९-२९ को मुझे निम्न पत्र लिखा

"तुमसे ही क्या कहू ? तुम बहुत कार्यव्यस्त हो और तुम्हारे द्वार पर मेरे जैसे भिक्षुक तो पडे ही रहते हैं। किंतु फीस देनेवालो के सामने भिक्षुको का हक या तो सबसे पहला होता है या बिल्कुल ही नही होता। यह तो हुई प्रस्तावना।

"तुम्हारे पास नवजीवन कार्यालय का ट्रस्ट पटा हुआ है। उसकी अब रजिस्टरी होनी ही चाहिए। दैव गति को कौन जानता है? यह काम जब तक नही होता, तब तक तुम्हें मुझे और सबको काला टीका लगने की जोखिम उठानी होगी। अत अब एक सप्ताह में इसे पूरा कर देना चाहिए। दो वर्ष हो गये, इसलिए कदाचित कुछ हेर-फेर करना पडे। विचार कर देख लेना।"

इस पत्र में गाधीजी की व्यग्रता और उतावली स्पष्ट दिखाई देती है। उसके साथ ही उन्हें जो गलतफहमी थी, उसका भी यहा स्पष्टीकरण आवश्यक है। उन्होंने शायद यह सोचा प्रतीत होता है कि मुझे अवकाश न होने के कारण दस्तावेज मे ढील हुई है, किंतु वस्तु स्थिति यह नही थी। दस्तावेज की रचना के सबध मे जिस जानकारी और स्पष्टता की जरूरत थी, उसे प्राप्त करने मे ही बहुत सारा समय चला गया। अगर गाधीजी अहमदाबाद में ही स्थायी रूप से रहते होते और अनेक महत्व के कामो में कुछ कम फसे होते, तो उनके पास से बड़ी जल्दी जानकारी प्राप्त की जा सकी होती, किंतु उनकी अनेक व्यस्तताओ के कारण और उनके काफी समय अहमदाबाद मे बाहर रहने के कारण पत्र-व्यवहार द्वारा ही काम चलाना पडता था और इसलिए इस मस्विदे को तैयार करने में विलंब हुआ। यह तो स्पष्टीकरण के रूप मे हुआ।

किंतु गाधीजी ने ऊपर के पत्र के प्रथम पैरे में जो बात लिखी है, वह वकील ही क्या, हर धधेवाले व्यक्ति के लिए याद रखने योग्य है। अपने धंधे को समालते हुए सार्वजनिक काम करनेवाले पहले अपने धधे की ओर देखते हैं, यह स्वाभाविक है और उसके बाद अगर कोई समय बचता है तो सार्वजनिक काम में हाथ डालते हैं। फिर अगर बहुत सारे सार्वजनिक काम करने हुए तो और भी ज्यादा कठिनाई पेश आती है। इसलिए गाधीजी ने पत्र में चेतावनी दी है। उनका यह आग्रह उचित ही है कि अपने अवकाश में सार्वजनिक काम करनेवालों को भी सार्वजनिक कार्य को प्रधानता देकर अवकाश निकालना चाहिए। हमारे बहुत से सार्वजनिक काम धक्के खाते रहते हैं, समय पर नही हो पाते अथवा बिल्कुल ही नहीं होते, इसका मुख्य कारण यह है कि अपने अवकाश में काम करनेवाले लोग

सार्वजनिक काम को प्रमुखता नही देते। अपनी आजीविका के काम के कारण थोडा समय मिलता हो तो थोडा सार्वजनिक काम अपने सिर पर लेना चाहिए, किंतु सार्वजनिक काम को प्रमुख स्थान देकर और निजी काम की अपेक्षा विशेष महत्व का मानकर उसे पूरा करना चाहिए।

गाधीजी के कथन मे एक और बात है, वह यह कि काम मर्यादित ही लेना चाहिए और उसे पूरा ध्यान देकर अच्छी प्रकार से सपादित करना चाहिए। काम के लोभ में या प्रतिष्ठा अथवा बडप्पन की खातिर लोग अपनी शक्ति से अधिक काम अपने सिर पर ले लेते हैं। विशेष दुख की बात यह है कि यह जानते हुए भी कि हम इन सब कामो को पूरा नही कर सकेंगे, उनका बोझ अपने सिर पर लाद लेते हैं। कभी-कभी शरमा-शरमी भी ऐसा बोझ उठा लेते हैं। जिस किसी कारण से हम आवश्यकता से अधिक बोझ अपने सिर पर ले लेते हो, फिर भी इस प्रकार अनेक काम हाथ मे लेकर एक भी काम की ओर पूरा ध्यान न देना स्वय अपनी और काम की दृष्टि से वाछनीय नही कहा जा सकता। इस प्रकार के आचरण को गाधीजी 'व्यभिचार' कहते थे, क्योकि इसके फलस्वरूप किसी भी काम के प्रति एकाग्रता और एकनिष्ठा नही रखी जा सकती। मैं तो मानता हू कि हमारा समग्र जीवन अव्यवस्थित होने के अनेक कारणो मे से यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है। एक ओर कुछ व्यक्तियो पर अनेक कामो का अनेक प्रकार का बोझ लदा होता है और दूसरी ओर कई लोगो के पास बिल्कुल ही काम नही होता। यह स्थिति समाज के लिए सर्वथा अनिष्टकारी है।

इसीलिए गाधीजी कहते हैं—"फीस देनेवाले के सामने भिक्षुको का हक या तो पहला हो या बिल्कुल ही न हो।" इसमे सार्वजनिक काम करनेवाले 'भिक्षुको' की प्रतिष्ठा के प्रति भी कटाक्ष किया गया है।

पत्र के दूसरे पैरे मे "दैव की गति कौन जानता है ?" जो प्रश्न है, वह गाधीजी के मन मे आजादी की लडाई के भविष्य के बारे में चल रही उथल-पुथल का द्योतक है। सन १९३० में शुरु होनेवाली लडाई के सकेत इस पत्र में स्पष्ट दिखाई देते हैं।

इसके बाद आवश्यक जानकारी तथा ट्रस्टियो के नाम आदि तय करने का काम पत्र-व्यवहार द्वारा ही शीघ्रतापूर्वक किया गया और पद्रह रुपये

के स्टाप पर दस्तावेज लिखा जा सकेगा, कलेक्टर का यह मत २१ नववर १६२६ को मिला। उसके पश्चात तुरंत ही २६-११-२६ को दस्तावेज पक्का कर लिया गया।

: ७ :

गुजरात कालेज के विद्यार्थियों का संघर्ष

भारत को राजनैतिक सुधार किस प्रकार के और कितनी मात्रा मे दिये जाय, इस विषय में भारत में भ्रमण करके जाच करने और इग्लैंड की पार्लामेंट के सामने रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक कमीशन सन १६२८ में नियुक्त किया था। उसके प्रमुख सर जॉन साइमन[1] थे, इसलिए यह कमीशन 'साइमन कमीशन' के नाम से विख्यात हुआ। इस कमीशन के काम के साथ भारत का अत्यत निकट का और घनिष्ठ सबंध होने पर भी एक भी भारतीय को उसमें शामिल नही किया गया, इसलिए नरमदली लोगो से लगाकर असहयोगियो तक तमाम राजनैतिक दलो ने अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए कमीशन का बहिष्कार करने की घोषणा की थी। जिस दिन कमीशन के सदस्य बबई में उतरनेवाले थे, उस दिन हड़ताल रखने का ऐलान किया गया। यह ऐसा मामला था जिसके बारे मे एक भी विरोधी मत न था। सभी सहमत थे।

१२ अक्तूबर को जब कमीशन-सदस्य बबई पहुचे, तो उस समय गुजरात कालेज मे छमाही परीक्षाए चल रही थी। राष्ट्र के तमाम नेताओं की अपील पर और देशप्रेम की तीव्र भावना से प्रेरित होकर विद्यार्थियो ने भी हड़ताल में शामिल होने का निर्णय किया। इस कारण गुजरात कालेज के कितने ही विद्यार्थी छमाही परीक्षा मे नही बैठे, उनमे से कितनो ही ने प्रश्नपत्रो के जवाब मे कुछ नही लिखा और कोरी कापिया कालेज के अधिकारियो को सौपकर परीक्षा-स्थल से बाहर चले आये।

इन विद्यार्थियो में से कालेज के प्रथम वर्ष में पढनेवाले विद्यार्थियो की

---

१. ११-१-५४ को सर जान साइमन का स्वर्गवास हो गया।

स्थिति विषम थी। प्रथम वर्ष की परीक्षा यूनिवर्सिटी की ओर से नही ली जाती थी, बल्कि कालेज के अधिकारी वह परीक्षा लेकर जिसको उत्तीर्ण करते, उसे ही अगले वर्ष में अध्ययन करने की अनुमति मिलती। इस प्रकार प्रथम वर्ष के विद्यार्थियो का भविष्य कालेज अधिकारियो के ही हाथ मे था। जिस परीक्षा मे विद्यार्थी अनुपस्थित रहे अथवा कोरी कापिया छोड आये, वह वार्षिक परीक्षा नही, बल्कि छमाही परीक्षा थी, जिसका कालेज में कोई महत्व नही समझा जाता था। इस परीक्षा मे विद्यार्थी न बैठें या अनुत्तीर्ण रहें तो भी अगर वे वार्षिक परीक्षा में निर्धारित अक प्राप्त कर ले, तो उनको उत्तीर्ण समझा जाता है और उन्हे ऊचे वर्ग मे जाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। परीक्षा-नियमो मे ऐसा लिखा हुआ था कि यदि प्रिंसिपल को यह लगे कि विद्यार्थी ने ठीक अध्ययन किया है, तो वह उसे ऊपर के वर्ग मे जाने का प्रमाण-पत्र दे सकता है।

उस समय गुजरात कालेज के प्रिंसिपल फिडले शिराज नाम के एक गोरे (स्काच) सज्जन थे। ज्ञानदान, विद्यादान अथवा चरित्र-गठन की अपेक्षा उनका ध्यान विद्यार्थियो की राज्य-भक्ति और राज्य-भक्तिजनित अनुशासन पर विशेष रूप से केंद्रित था। वह समय भी ऐसा था कि आजादी की अगली लडाई की तैयारियो का ज्वार सारे देश में, और विशेषकर कालेज के प्रौढ़ विद्यार्थियो मे, फैला हुआ था। विद्यार्थियो और शिक्षको दोनो को उससे दूर रखने के लिए सरकार ने अनेक प्रकार के बधनो का निर्माण करना शुरू कर दिया था। देश के नेताओ और युवक-वर्ग का पारस्परिक परिचय न होने देने के सरकारी प्रयास पूरे जोर से चल रहे थे। विद्यार्थियो को कालेज अथवा स्कूल में प्रविष्ट करने के काम से लगाकर वैतनिक अथवा अवैतनिक सरकारी नौकरी में भरती करने के काम तक, हर समय पुलिस की मारफत या अन्य रीति से प्रत्येक व्यक्ति की जाच-पडताल की जाती थी। सरकार की इस वृत्ति से अगर गोरे प्रिंसिपल मुक्त रहते, तो यह आश्चर्य की ही बात होती। सब जानते थे कि प्रिंसिपल शिराज राष्ट्रवादी राजनीति को बडे तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।

इन हालतो में परीक्षा में अनुपस्थित रहकर अथवा कोरी कापिया देकर अपनी देशभक्ति का प्रदर्शन करनेवाले विद्यार्थियो को शिराजसाहब किस

प्रकार सहन करते ? उन्होंने विद्यार्थियों के उत्साह को दबाकर सबक सिखाने का निर्णय किया। उन्होंने विद्यार्थियों के सरपरस्तों को ४ नवम्बर १९२८ को एक पत्र में लिखा—"आप जानते हैं कि आपके लड़के ने परीक्षा में अनुपस्थित रहकर उन शर्तों को भंग किया है, जिनपर कि उसको गुजरात कालेज में दाखिल किया गया था। आप मुझे तुरन्त सूचित करें कि वह क्यों अनुपस्थित रहा और क्या वह आपकी जानकारी में अनुपस्थित रहा था ?"

सिराजसाहब यहीं नहीं ठहरे। उन्होंने आगे लिखा—"आपके लड़के की २१ नवम्बर को फिर परीक्षा ली जायगी और दण्डस्वरूप उसे तीन रुपया इस परीक्षा में बैठने के लिए देना पड़ेगा।" "इस परीक्षा में अगर आपका लड़का उत्तीर्ण न हुआ, तो उसका अर्थ यह होगा कि युनिवर्सिटी-नियमों के अनुसार उस वर्ष के दो सत्रों में (जिनमें से एक तो चालू ही था) निर्दिष्ट अध्ययन संतोषजनक रीति से कर लेने का प्रमाण-पत्र मैं नहीं दे सकूंगा।"

इसका सीधा अर्थ यह था कि विद्यार्थियों पर प्रिंसिपल अपना रोब जमानेवाले थे और उन्होंने उस पत्र द्वारा दोहरी सजा पहले ही सुना दी थी। एक तो तीन रुपये का दंड और दूसरी सजा यह कि वर्ष के अन्त में संतोषजनक अध्ययन करने का प्रमाण-पत्र वह नहीं देंगे।

प्रिंसिपलसाहब का यह काम विशुद्ध राजनैतिक था, कालेज के अनुशासन का तो एक बहाना था। यह भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं और विद्यार्थियों के स्वाभिमान को चुनौती देनेवाला कदम था। भारत का युवक-वर्ग उनके हाथ के नीचे दबा रहे, यह एकमात्र राजनैतिक हेतु प्रिंसिपल के इन छोटे प्रतीत होनेवाले काम में स्पष्ट उभर आया था और इस कारण उस प्रश्न का विशेष महत्व था।

प्रिंसिपल के इस पत्र से विद्यार्थियों में भारी खलबली मची और उन्होंने अपना विरोध लिए प्रकट करने के लिए प्रेमाभाई हाल में एक सार्वजनिक सभा बुलाने का निर्णय किया। अहमदाबाद के सार्वजनिक काम में दिलचस्पी लेनेवाले एक नागरिक की हैसियत से सभा में आने का निमन्त्रण देने के लिए भाई रोहित मेहता (जो आजकल बनारस की थियोसोफिकल सोसाइटी में अच्छा रचनात्मक शैक्षणिक कार्य कर रहे हैं) और उनके एक-दो साथी मुझसे मिलने आये। मैं उस समय घर पर न था। श्रीमती अनुसूया बहन के यहां

गया था और वहा श्रीमती अनुसूया बहन, श्री शकरलाल बैंकर और विल्सन कालेज (बबई) के प्रिंसिपल डा० मेकेंजी के साथ मे बात-चीत कर रहा था। वहा इन विद्यार्थियो ने आकर मुझे निमत्रण दिया। कालेज-सबघी परिस्थिति से परिचित न होने के कारण मैंने निमत्रण स्वीकार करने मे आनाकानी की। इस पर श्री शकरलाल बैंकर ने मुझसे कहा—"मावलकर, अहमदाबाद के एक प्रमुख नागरिक और सार्वजनिक कार्यकर्ता की हैसियत से तुम शिराजसाहब से मिलो, सारी जानकारी प्राप्त करो और उन्हे समझाने का प्रयत्न करो, यह मैं आवश्यक समझता हू।" मेरा उत्तर यह था—"आप ठीक कहते हैं, किंतु इस बारे में मैं कुछ नही जानता। शिराज को केवल आखो से देखा है, पर मुलाकात नही है। और मेरे पास इतना अधिक काम है कि इस मामले को हाथ में लेने लायक समय भी मेरे पास नही है। इसलिए मेरा इसमे न पडना ही उचित है।"

फिर भी भाई शकरलाल ने मुझसे आग्रह किया और प्रिंसिपल डा० मेकेंजी ने उनका समर्थन किया। इसलिए दूसरे दिन सवेरे शिराज से मिलने जाने और उनसे जानकारी प्राप्त करके शाति-स्थापना का काम मैंने अपने सिर पर ले लिया। तदनुसार १२-११-२८ के दिन दुपहर को मैं शिराजसाहब से मिलने गया और एक घटे तक उनसे बातचीत की। सार्वजनिक सभा बुलाकर उसमे किस प्रकार के प्रस्ताव स्वीकार किये जायगे, इसकी भी कुछ तस्वीर मैंने उनके सामने रखी। कुछ तो डर के कारण और कुछ अतर की इस अनुभूति के कारण कि उनका कार्य राजनैतिक हेतु से प्रेरित और अन्यायपूर्ण है, शिराज ने मेरे साथ समझौता कर लिया।

उनकी मुख्य दलील यह थी कि वह अपने ऊपरवालो के आदेश के अनुसार यह सब कुछ कर रहे हैं, इसलिए किसी भी प्रश्न का आखिरी निर्णय वह कैसे कर सकते हैं? उनकी यह दलील आधाररहित और गलत थी। कालेज की आतरिक व्यवस्था सबधी ऐसी छोटी बात मे ऊपरी अधिकारी हस्तक्षेप करेंगे, उनका यह कथन बिल्कुल बेहूदा था। फिर भी उनको अपना कदम पीछे हटाने के लिए किसी-न-किसी बहाने की जरूरत थी, इसलिए उनकी दलील को स्वीकार करते हुए मैंने इतना ही आग्रह रखा कि जो भी समझौता हो, उसका शिराज ईमानदारी से समर्थन करें और पहले के आदेशो पर पुनर्विचार

करने की सिफारिश अपने अफसरों से करें। प्रिंसिपल ने निम्न शर्तों को मान्य किया :

१. तीन रुपये जुर्माना करने का विचार छोड़ दिया जाय।

२. इस प्रार्थना के स्वीकृत होने तक दंड-वसूली का काम स्थगित रखा जाय।

अगर ऊपर के अधिकारी दंड वसूल न करने की सिफारिश मान लें, तो मैंने आशा प्रकट की कि प्रिंसिपल विद्यार्थियों की मांग का समर्थन करेंगे। मैंने यह भी बताया कि प्रेमाभाई हॉल की सार्वजनिक सभा में जो प्रस्ताव स्वीकार किये जायंगे, उनकी प्रतिलिपि सभा के अध्यक्ष की ओर से प्रिंसिपल को भेजी जायगी। मैंने यह मत प्रकट किया कि जो परीक्षाएं ली जायं, उनमें विद्यार्थियों को बैठना चाहिए। मैंने यह भी कहा कि विद्यार्थियों को नियमित रूप से कालेज में जाना चाहिए।

साथ-साथ मैंने यह बात भी स्पष्ट कर दी थी कि अगर सरकार के उच्च-अधिकारी दंड के बारे में पुनर्विचार करने को तैयार न हों, तो यह मान कर नहीं चलना चाहिए कि संरक्षक और विद्यार्थी दंड देना स्वीकार कर लेंगे। उस अवस्था में उनको तमाम उचित कदम उठाने की स्वतंत्रता होगी। प्रस्ताव में विद्यार्थियों और उनके संरक्षकों को किसी भी रूप में दंड की राशि अदा न करने की स्पष्ट सलाह दी गई थी।

अन्य संभवित बातों के बारे में भी मैंने स्पष्टीकरण किया और सावधानी की खातिर प्रिंसिपल के साथ जो समझौता हुआ, उसका उल्लेख करनेवाला एक पत्र मैंने प्रिंसिपल को लिख भेजा। इस पर प्रिंसिपल ने इस आशय का एक नोटिस कालेज-बोर्ड पर लगाया कि १२ अक्तूबर १९२८ के दिन जो विद्यार्थी त्रिकोणमिति (ट्रिगनोमेट्री) और भूमिति (ज्यामेट्री) की परीक्षाओं में नहीं बैठे, उनके लिए ही २१ नवंबर को परीक्षा ली जायगी। उस परीक्षा में जो अनुत्तीर्ण रहेंगे, उनको केवल उन्हीं विषयों में (अन्य में नहीं) अनुत्तीर्ण गिना जायगा; जो विद्यार्थी फीस नहीं देंगे, उन्हें परीक्षा में नहीं बैठने दिया जायगा और उन्हें त्रिकोणमिति और भूमिति के विषयों में अनुत्तीर्ण समझा जायगा।

इस नोटिस के अंत में प्रिंसिपल ने सूचित किया था कि इस विषय से संबंध

रखनेवाली दूसरी बातो के बारे में वह पुनर्विचार कर रहे हैं ताकि किसी प्रकार की गलतफहमी के लिए स्थान न रहे।

यह नोटिस कालेज-बोर्ड पर लगने के बाद दूसरे ही दिन मैंने शिराज को एक आभार-प्रदर्शक पत्र लिखा था।

जिन दिनो शिराज के साथ बातचीत चल रही थी, नव-स्थापित लॉ कालेज के एक समारोह के सिलसिले में श्रीयुत मुकुदराव जयकर अहमदाबाद आनेवाले थे। शिराजसाहब का उन्हे अपने यहा ठहरने का आग्रह था, और इसलिए मुझे यह जरूरी लगा कि मैं उन्हे कालेज-प्रकरण से परिचित कर दू। ता० २७-११-२८ को मैंने एक निजी विस्तृत पत्र लिखकर श्री जयकरसाहब को सारी परिस्थिति से परिचित करा दिया। मुझे डर था कि शिराज पैंतरे-बाजी से काम लेकर विद्यार्थियो को नसीहत देने की इच्छा रखते हैं। मुझे जरा भी सदेह नही था कि यद्यपि वह राजनैतिक हेतु से इन्कार करते हैं, किंतु उनका सारा कृत्य राजनैतिक हेतु से प्रेरित है। कालेज के विद्यार्थियो के नेतृत्व मे चलनेवाले युवक सघ को वह नापसद करते थे, इसलिए अगर वह जयकरसाहब से एकतरफा बात करें, तो उन्हे गुमराह नही होना चाहिए, इसीकी चेतावनी देनेवाला वह पत्र था।

इसके बाद २२-१२-२८ तक शिराजसाहब ने मुझे न तो कोई खबर दी और न कोई कदम ही उठाया। इससे हम सबकी यह स्वाभाविक मान्यता बन गई कि कालेज-प्रकरण समाप्त हुआ। यद्यपि शिराज के बारे मे जो कुछ जानने को मिला, उस पर से यह शका तो थी ही कि इस प्रश्न को वह छोडनेवाले नही हैं और कोई-न-कोई विस्फोट होगा।

आखिर २२-१२-२८ को शिराजसाहब ने दूसरा विस्फोट किया। दूसरे ही दिन बडे दिनो की छुट्टियो के लिए कालेज बद होनेवाला था और वह किसी परिषद के काम से मैसूर जानेवाले थे। उन्होंने २२-१२-२८ को यह नोटिस निकाला कि "जो विद्यार्थी त्रिकोणमिति और भूमिति की (१२-१०-२८ अथवा ३०-१०-२८ की) छमाही परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुए होंगे, उन्हे वार्षिक परीक्षा मे बैठने की अनुमति नही दी जायगी। २७-११-२८ की परीक्षा में शामिल न होनेवाले अथवा अनुत्तीर्ण होनेवाले विद्यार्थियो को पुन एक अवसर देने के लिए १५ जनवरी १९२९ को इन विषयो मे एक बार फिर

परीक्षा ली जायगी, जिसकी फीस तीन रुपये देनी पड़ेगी। जो विद्यार्थी इस परीक्षा मे नही बैठेगा और तीन रुपये फीस नही देगा, उसे वार्षिक परीक्षा में बैठने नही दिया जायगा और यूनिवर्सिटी के नियमोपनियम के अनुसार उसे आगे के अभ्यास के लिए आवश्यक प्रथम वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रमाण-पत्र नही दिया जायगा।" सरकारी छात्रवृत्ति पानेवाले जो विद्यार्थी थे, उन्हे इस नोटिस द्वारा यह धमकी दी गई कि अगर वे परीक्षा मे नही बैठेंगे और फीस दाखिल नही करेंगे, तो उनकी छात्रवृत्ति बद कर दी जायगी।

इस नोटिस से विद्यार्थी जगत मे भारी हलचल मची। नोटिस का सीधा और स्पष्ट अर्थ था। जो बात वह शुरू मे करना चाहते थे, उसीको उन्होने फिर से खडा किया था। यह नोटिस जिस समय कालेज में लगा, उस समय मैं कोकण के राजपुर ग्राम में वहा के हाईस्कूल के उत्सव में भाग लेने गया था। मेरी अनुपस्थिति के कारण विद्यार्थी तत्काल मुझसे सपर्क स्थापित न कर पाये और ३० दिसबर को जब मै अहमदाबाद आया, तो मुझसे मिले और शिराज़ के उलट-फेर और उससे उत्पन्न होनेवाली परिस्थिति से उन्होने मुझे अवगत किया। इस पर मैंने सोचा कि कोई भी सीधा कदम उठाने के पहले मुझे शिराज को पत्र लिखकर उनका स्पष्टीकरण माग लेना चाहिए और परिस्थिति की गभीरता से उन्हे परिचित कर देना चाहिए। अत ३०-१२-२८ को मैंने शिराज़ को एक पत्र लिखा और विद्यार्थियो को परामर्श दिया कि उन्हे शिराज़ के उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

३ या ४ जनवरी को कालेज खुलनेवाला था। विद्यार्थियो को यह भ्रम था कि नये सत्र की फीस नही दी जायगी तो आर्थिक तगी से सरकार अथवा शिराज़ झुक जायगे। उनका यह भी एक विचित्र खयाल था कि अगर कालेज की हडताल तीन दिन जारी रहे, तो यूनिवर्सिटी एक जाच आयोग नियुक्त करके समस्या को निपटाने का प्रयत्न करेगी। उनका यह खयाल कैसे और किस आधार पर बना, यह मै नहीं समझ सका, किंतु ऐसा खयाल था अवश्य। इसलिए शिराज़ के उत्तर की प्रतीक्षा करने की मेरी सलाह को ताक में रख-कर कालेज खुलने के दिन से ही विद्यार्थियो ने हडताल शुरू कर दी। हडताल शुरु होने की खबर मुझे बाद मे मिली। विद्यार्थियो ने उतावली मे यह कदम उठाया था और मुझे प्रतीत हुआ कि उससे उनके मजबूत पक्ष को थोडा धक्का

पहुचता है। किंतु उन्होने अपने तौर पर कदम उठाया था और देश के स्वाभिमान की रक्षा के लिए यह लडाई शुरू की थी। इसलिए उस समय मैं बीच में नही पडा और न ही मैंने उनको किसी प्रकार का सार्वजनिक अथवा निजी उलाहना दिया।

३ जनवरी १६२६ के दिन कालेज की यह ऐतिहासिक हडताल शुरू हुई। यह लडाई जितनी कालेज की थी, उतनी ही आजादी की भी थी।

: ८ :

लड़ाई का आरंभ

विद्यार्थियो ने क्रोध और आवेश में आकर हडताल तो शुरू कर दी, किंतु जब उन्होने देखा कि चार दिन की हडताल के बाद भी शिक्षा-विभाग अथवा यूनिवर्सिटीवालो के कानो पर जू नही रेंग रही है, तो स्वभावत उन्हे परेशानी हुई, वे सचेत हुए। हडताल में बहुत सारे विद्यार्थी शामिल हुए थे, परतु कितने ही उससे बहुत दूर रहे थे। सरकारी छात्रवृत्ति प्राप्त करनेवाले हडताल मे कैसे शामिल होते? फिर कितने ही विद्यार्थियो के मन मे इसलिए भी रोष था कि मुट्ठी-भर विद्यार्थियो ने नेता बनकर हडताल की घोषणा कर दी, हमसे पूछा तक नही, ऐसी दशा मे हम ऐसी हडताल मे क्यो शामिल हो? लगभग ७५० विद्यार्थियो मे से करीब ६५० से ऊपर विद्यार्थी हडताल मे शामिल हुए थे।

हडताल चार-पाच दिन चल चुकने के बाद विद्यार्थी नेता मेरे पास सलाह और मार्ग-दर्शन के लिए आये। मै उन्हे दूर कैसे धकेलता! उन्होने उतावली मे कदम उठाया था, शिराज़ के उत्तर की भी राह नही देखी। यही उनके पक्ष मे थोडी त्रुटि थी। फिर भी उनका विरोध न्यायपूर्ण और केवल विद्यार्थियो के लिए ही नही, बल्कि देश के स्वाभिमान की रक्षा के लिए होने के कारण मैंने उनका साथ देना अपना कर्तव्य मान लिया। मैंने उनसे कहा—"भले ही तुमने हडताल करने मे उतावली की हो, तुम्हारे पक्ष को मैं बिल्कुल सच्चा मानता हू। फिर तुमने जो कदम उठा लिया है, उसके गुण-दोष का विचार करने का अब समय नही रहा, मेरी अब तुमको यही

सलाह है कि जो भी हो, जबतक सम्मानपूर्ण समझौता न हो, तबतक तुमको हडताल जारी रखनी चाहिए। सभव है कि तुम सब टिके नही रह पाओ, किंतु अगर थोडे भी विद्यार्थी कालेज का अध्ययन हमेशा के लिए छोडने को प्रस्तुत हो जाय तो काम चलेगा। इसलिए अब तो दृढ़ रहना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि हडताल को किस प्रकार मजबूत बनाया और जारी रखा जा सकता है।"

सौभाग्य से शिराजसाहब ने हमारी मदद की। उन्होंने मेरे पत्र का उत्तर नहीं दिया, यही नही, उसकी पहुच की भी स्वीकृति नही भेजी। अत उतावली मे हडताल करने की बात उड गई। हड़ताल जारी रखने के लिए हमने निम्न उपाय किये.

(१) कालेज ११ बजे खुलता, उस समय कालेज के अहाते के बाहर नित्य सभा का आयोजन करते और उसमे किसी राष्ट्रीय नेता का व्याख्यान कराते। इसका उद्देश्य इतना ही था कि हडताल का मर्म और रहस्य नित्य प्रति विद्यार्थियो के कान में डाला जाय और उनके मन में कमजोरी न आने दी जाय। इस प्रकार सरदार वल्लभभाई पटेल, आचार्य कृपलानी आदि अनेक छोटे-बडे नेता विद्यार्थियो के सामने भाषण देते।

(२) नित्य शाम को साबरमती नदी की रेत में विद्यार्थियो की सभा रखी जाती और उसमें उन्हे परिस्थिति से परिचित कराया जाता। हडताल में कितने नये विद्यार्थी शामिल हुए, हडताल के बारे मे समाचार मे पत्रो की क्या राय है, देश के नेताओ ने आशीर्वाद के कौन-कौन-से सदेश भेजे हैं, यह सब इन सभाओ में बताया जाता। इन सभाओ मे मुझे तो नित्य बोलना ही पडता, अन्य स्थानीय नेता भी उनमें विद्यार्थियो के सामने बोलते।

(३) हडताल के चौदहवें दिन से 'विद्यार्थी पत्रिका' नाम के एक दैनिक का प्रकाशन शुरू किया। उसमें हडताल-सबंधी जानकारी होती और विद्यार्थियो का उत्साह बढानेवाले लेख होते। इस पत्रिका का सपादन-कार्य मेरे स्वर्गीय मित्र डा० हरिप्रसाद देसाई को सौंपा गया।

(४) कालज-अहाते से बाहर रहकर हड़ताल में शामिल न होनेवाले विद्यार्थियो को समझाने का प्रयास किया जाता, और वास्तव मे आनद और गर्व की बात यह थी कि इस प्रकार विनय करते समय किसी भी विद्यार्थी

के साथ जरा भी जोर-जुल्म या धमकी का वर्ताव नही किया जाता।

हडताल का काम सफल बनाने के लिए नागरिको तथा विद्यार्थियो की एक हडताल-समिति की स्थापना की गई। उसका सारा काम मैं ही करता। उसकी बैठकें नदी की रेत की सभाओ के बाद मेरे निवास-स्थान पर होती और प्रिंसिपल की ओर से होनेवाली कार्रवाई, उनके वक्तव्यो आदि पर उनमें विचार किया जाता, तदनुसार विद्यार्थियो को सलाह दी जाती, प्रचार-कार्य होता और सार्वजनिक वक्तव्य दिये जाते। जिन दिनो यह हडताल चल रही थी, उन दिनो अहमदाबाद की अदालत मे दो महत्वपूर्ण मुकदमे चल रहे थे। उनके सिलसिले मे सर चिमनलाल सीतलवाड, श्री भूलाभाई देसाई आदि बबई के वकील अहमदाबाद आये हुए थे। मैं भी इन मुकदमो मे वकील था, इसलिए मुझे नित्य अदालत मे पाच घटे और उसके बाद रात को दो-तीन घटे सर चिमनलाल और श्री भूलाभाई से मिलना पडता। सर चिमनलाल उस समय बबई यूनिवर्सिटी के वायस-चासलर थे, इसलिए विद्यार्थी मुझसे आग्रह करते कि आप रोज घटो वायस-चासलर के पास बैठते हैं, तब उस हडताल के बारे मे उनसे बात करके इसका तुरत अत क्यो नही करा सकते! बिचारे विद्यार्थी! इन्हे राजनीति में दिलचस्पी थी, किंतु वे निर्दोष बालकों-जैसे थे। मनुष्य-स्वभाव की पहचान और राजनीति की गुत्थियों का अनुभव उन्हे कहा से होता? इसलिए उनका अनुरोध सुनकर मैं केवल हस देता और इतना भर कह देता कि "सर चिमनलाल के साथ बात करने का समय अभी नही आया। जल्दी मे आम नही पका करते। अगर अभी बात करूगा तो मुझे डर है कि कच्चा ही आम तोडना पडेगा।" वे मेरी बात को श्रद्धापूर्वक ग्रहण करते। पर मुझे ऐसा नही लगता था कि वह उनके गले उतर गई हो। मुझे यह भय और लगभग विश्वास था कि सर चिमनलाल अनुशासन के नाम पर विद्यार्थियो का ही दोष निकालेंगे और मुझे भी बुरा-भला कहेगे। उनकी ऐसी ही विचार-भूमिका थी। इसलिए जबतक वह न पूछें, तबतक, मैंने निश्चय किया कि उनके साथ एक शब्द भी नहीं बोलना चाहिए।

हडताल एक सप्ताह चल चुकने के बाद एक शाम को अदालत से उठते समय सर चिमनलाल ने पूछा—'मावलकर, यह [illegible]

चल रहा है ? क्या यह शोभाजनक है ?"

मैंने इतना ही उत्तर दिया—"थोडे समय मे सारी वात आपको कही जा सके, यह इतनी सक्षिप्त वात नही है। किंतु अगर आप पूरी वात सुनकर सलाह देंगे, तो हम लोग उसपर अमल करने की कोशिश करेंगे।"

इस पर उन्होंने कहा—"आज की अपनी सार्वजनिक सभा मे तुम क्या प्रस्ताव करनेवाले हो ?"

मैंने जरा अतिशयोक्ति से काम लेकर कहा—"हम तो ऐसे झूठे प्रिंसिपल की पूरी निंदा करनेवाले हैं।"

मेरे स्वर और मुद्रा को देखकर सर चिमनलाल ने दलील आगे नही वढाई और इतना ही कहा—"आज उतावली करके ऐसा प्रस्ताव मत करो। रात्रि को मैं उनके साथ भोजन करने जा रहा हू। उस समय उनके साथ वात करूगा।"

मैंने उनकी सलाह मानते हुए कहा—"तो आज की सभा मे मैं यह कहूगा कि सर चिमनलाल की सलाह है कि आज उतावली करके हमको कोई प्रस्ताव नही करना चाहिए।"

उन्होंने तुरत कहा—"नही, नही, क्या वहा मेरा नाम लेना उचित होगा ?" -

"फिर मैं विद्यार्थियों को किस तरह समझाऊगा ?" अत मे यह तय पाया कि मुझे यह कहना चाहिए—"कुछ वुजुर्गो की यह सलाह है कि आज हमको उतावली नही करनी चाहिए।" यही शाम को नदी की रेत की सभा मे मैंने जाहिर किया और कोई प्रस्ताव किये विना सभा पूरी की।

उस दिन रात को हम स्वर्गीय सेठ मगलदास के वगले पर मिले (कारण अदालत मे चलनेवाला मामला उन्हींका था)। सर चिमनलाल गिराज के यहा भोजन कर वडी देर मे करीब वारह वजे आये। आते ही मुझे देखकर वह एकदम तेज स्वर मे बोले—"मावलकर, तुम्हे जो करना हो, वह करो। वह तो कठोर दिमाग का आदमी है। मानना ही नही और न समझना है।" इस तरह हमने अपने रास्ते का एक वडा पर्वत लांघा। अब सर चिमनलाल के पास विद्यार्थियों को दोष देने-जैसा कुछ रहा नही।

गिराज के साथ मेरा जो-कुछ परिचय और अनुभव हुआ था, उसपर

से मुझे यह विश्वास था कि वह किसीकी बात माननेवाले नही हैं। हमारी लडाई गाधीजी के रास्ते से चल रही थी, इसलिए मैं हमेशा समझौते के प्रयास के लिए अपनी तैयारी प्रकट करता। विशेषकर इसलिए कि सहानुभूति से प्रेरित होकर समझौते का प्रयास करने के लिए आनेवालो का भ्रम दूर हो जाय और वे हमारी गाडी मे बैठ जाय।

सर चिमनलाल के प्रयास के बाद श्री शिवदासानी ने समझौता कराने का बीडा उठाया। शिवदासानी आई० सी० एस० थे और बारडोली की लडाई के समय उन्होने इस्तीफा दे दिया था। बाद मे वह सेठ मगलदास के औद्योगिक बैंक मे नौकर हो गये थे और बबई कौसिल के सदस्य थे। उन्होने आकर मुझसे पूछा—"परीक्षा दुबारा लेने पर आपको क्या आपत्ति है ?"

मैंने कहा—"मुझे कोई आपत्ति नही। मैं तो चाहता हू कि परीक्षा फिर ली जाय। मुझे यह बिल्कुल पसद नही कि विद्यार्थी अध्ययन न करें और अनुशासन भग करें। जरूर दुबारा परीक्षा ले लें।"

तब उन्होने पूछा—"फिर यह रस्साकशी क्यो ?"

इसके उत्तर मे मैंने इतना ही कहा—"प्रिंसिपलसाहब वैर-वृत्ति रखते हैं। वह विद्यार्थियो को झुकाकर, उनके स्वाभिमान का अपहरण करके हर एक से तीन रुपया दड लेना चाहते हैं। और वह भी इस उद्देश्य से कि समस्त देश के एक आदोलन मे युवक विद्यार्थियो ने जो जोश दिखाया, उसे दबा दिया जाय। इसलिए दड तो किसी भी तरह नही भरा जा सकता।"

शिवदासानी समझौते के लिए बहुत उत्सुक थे। उन्होने पूछा—"फिर क्या रास्ता निकल सकता है ? प्रिंसिपल कहते हैं कि दुबारा परीक्षा लेने मे जो खर्च होगा, वह मैं कहा से लाऊ ?"

इसके जवाब मे मैंने कहा—"खर्च का ही सवाल है ? तो यह तो बहुत सरल बात है। प्रति विद्यार्थी तीन रुपये के हिसाब से लगभग ८३ विद्यार्थियो की लगभग २५०) रुपये की राशि होती है। यह रकम मैं अपने पास से आपको दे देता हू, किंतु शर्त इतनी है कि प्रिंसिपल इस आशय का नोटिस जारी करें कि परीक्षा के खर्च की व्यवस्था हो गई है इसलिए परीक्षा ली

जायगी आदि-आदि।" पाठक देखेंगे कि मैंने उनका उल्लेख नहीं किया था कि यह पैसा किसने दिया। मेरा सुझाव श्री शिवदासानी के गले उतर गया। वह बड़े उत्साह के साथ मुझसे विदा हुए। वह बाद में शिराज से मिलनेवाले थे, मैंने विदा होते समय उनसे इतना ही कहा—"मैं नहीं मानता कि शिराज यह सीधी-सादी बात भी स्वीकार कर लेंगे, फिर भी मैं हृदय से आपकी सफलता चाहता हूं।"

शाम को हड़ताल-समिति की सभा में जब मैंने यह विवरण सुनाया तो उसके विद्यार्थी सदस्य थोड़े नाराज हुए। उन्होंने पहले तो कहा—"आप यह ढाईसौ रुपये का घाटा क्यों उठायें?"

मैंने इतना ही उत्तर दिया—"तुम्हारा नेतृत्व स्वीकार करके मैं वर राजा बना हूं, इसलिए यह खर्च और कौन करे?"

उन्होंने कहा—"भले ही आप उसे परीक्षा का खर्च बतायें, किन्तु वास्तव में तो यह दड ही है और इसे देने में प्रिंसिपल की वैर-वृत्ति को ही पोषण मिलेगा।" फिर भी सबने मेरी बात का समर्थन किया।

दूसरे दिन शिवदासानी शिराज के साथ हुई बातचीत का परिणाम सूचित करने मेरे पास आये। उनका उत्तर पूर्व कल्पना के अनुसार ही आया—"यह आदमी तो बिल्कुल कुछ समझता ही नहीं और बहुत हठी है।" तब मैंने पूछा—"अब तो हम अपने रास्ते ही जाय न?" उन्होंने कहा—"मैं आपकी सफलता चाहता हू।"

हमने यह भी एक बड़ा गढ़ जीत लिया और हमारा बल दिन-प्रति-दिन बढ़ता गया।

: ६ :

हड़ताल की शक्ति में क्रमिक वृद्धि

जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-वैसे हड़ताल को सपूर्ण बनाने के प्रयत्न भी अधिक मात्रा में और विभिन्न दिशाओं में होने लगे। केवल अहमदाबाद में ही नहीं, बल्कि बबई प्रांत के समाचार-पत्रों में हड़ताल-सबधी विवरण हड़ताल समिति की ओर से प्रकाशन के लिए भेजे जाते। प्रमुख नागरिकों से

सपर्क स्थापित करके उनको हडताल की स्थिति से परिचित रखा जाता। उस समय की विधान सभा के सदस्य विशेष रेलगाडी से सक्खर बाध को देखने के लिए सिंध गये थे। वे अहमदाबाद होकर वापस लौटनेवाले थे, इसलिए मै उनसे मिलने अहमदाबाद स्टेशन गया और नडियाद तक उनके साथ यात्रा की। उनको हडताल-सबधी सारा विवरण सुनाया और उनसे अनुरोध किया कि विधान सभा मे इस प्रश्न की चर्चा करे और उसे अपना समर्थन दें। मेरा यह अनुरोध उन्होने स्वीकार कर लिया। प्रिंसिपल शिराज के किसी व्यवहार के बारे में कुछ समय पहले विधान सभा में जो प्रश्नोत्तर हुए थे, उनकी प्रतिलिपि भी विधान सभा के सदस्यो को भेजी गई। इसका आशय मात्र यही था कि हडताल के बारे मे विचार स्थिर करने और विधान सभा मे पूरक प्रश्न पूछने मे पुराने विवरण से आसानी हो सके। जब-तब हडताली विद्यार्थियो के जुलूस अहमदाबाद मे निकलते रहते थे और सारे प्रात के कालेजो और हाई स्कूलो में एक दिन की साकेतिक हडताल की योजना भी की गई थी। इस प्रकार दिन-प्रति-दिन लडाई मजबूत और उग्र होने के साथ-साथ व्यापक भी होती जा रही थी।

जिन दिनो यह हडताल चल रही थी, उस समय मेरे मित्र और स्नेही स्वर्गीय दीवान बहादुर हरिलाल देसाई बबई सरकार के एक मत्री थे। प्राय नित्य ही मैं उनको विस्तृत पत्र लिखता और हडताल की स्थिति से उन्हे परिचित रखता। उनका आशय इतना ही था कि अगर प्रिंसिपल शिराज हडताल के बारे मे कोई इकतरफा विवरण सरकार के सामने प्रस्तुत करें, तो उसके मुकाबले मे सच्ची स्थिति की जानकारी सरकार को दी जा सके।

इस हडताल के दौरान के कितने ही प्रसग उल्लेखनीय हैं। मुझे मित्र माननेवाले कालेज के दो प्रोफेसर निजी रूप से हडताल के बारे मे अपना दृष्टिकोण समझाने और किसी प्रकार विद्यार्थियो की हानि न हो, इस तरह हडताल का अत लाने की बात कहने के लिए मेरे पास आये। इनमें हसने-जैसी अथवा दुख करने-जैसी पहली बात तो यह थी कि खुले रूप में मेरे घर आने की इन प्रोफेसरो को हिम्मत नही हुई—उन पर प्रिंसिपल शिराज का इतना अधिक आतक छाया हुआ था। मेरे एक पडौसी के घर में वे दोनो रात को आये और वहा मुझे बुलाया। वहा हमारी लबी बातचीत हुई। उन्होंने

यह बात स्वीकार की कि गिराज्ञ का कृत्य सर्वथा बेहूदा और अन्यायपूर्ण है। वे यह भी दिल से चाहते थे कि उसका मुकावला किया जाना चाहिए, किंतु उनके मन मे यह डर समाया हुआ था कि ये सब विद्यार्थी कुचले जायेंगे और उनका साल बेकार चला जायगा। मैंने उनसे कहा—"अगर विद्यार्थी झुक जायेंगे तो हमेशा के लिए कुचले जायेंगे। उनको हमें स्वाभिमानी बनाना चाहिए। 'हा जी' करने में मैं देश के भविष्य के लिए खतरा अनुभव करता हू। वे एकाध वर्ष देर से या जल्दी अंतिम परीक्षा पास करें, इससे उनके जीवन में कोई फेर-फार होनेवाला नही है। और यह मान लेना भी गलत है कि हडताल से वे कुछ सीख नहीं रहे हैं। अन्याय का प्रतिकार करना और अत्याचारी के सामने छाती खोल कर खड़ा रहना चाहिए, इस प्रकार की शिक्षा विदेशी राज्य मे आजादी की लडाई के लिए आवश्यक है और यह शिक्षा ये विद्यार्थी प्राप्त कर रहे हैं। इसके अलावा त्याग करने की उनकी शक्ति बढेगी और वे अधिक अच्छे और राष्ट्र-प्रेमी नागरिक बनेंगे। इसलिए मैं इस हडताल को एक वांछनीय आपत्ति मानता हू।"

मेरी बात उन्हे उचित तो प्रतीत होती थी, किंतु उसे गले से नीचे उतारने की उनमें सामर्थ्य न थी! सरकारी तंत्र के अधीन अनुशासन के नाम पर वे गुलामी के अभ्यस्त हो गये थे। जब उन्होंने विद्यार्थियों के लिए 'बेचारे' शब्द का व्यवहार किया, तो मैंने उनसे कहा—"प्रोफेसरसाहब, माफ करना, बेचारे तो आप हो और अगर आपकी सलाह मान लूं तो इन युवकों को सच-मुच 'बेचारा' ही बना दूगा।" प्रोफेसरो का हृदय और सहानुभूति हमारी तरफ थी, किंतु उनकी हिम्मत चल न सकती थी।

लडाई के दौरान में समझौते का प्रयत्न करने के लिए सेठ मगलदास भी मेरे पास आये। जिस समय वह आये, उस समय लडाई जोरों से चल रही थी। उनकी दलील यह थी कि "गिराज जुर्माना या दड कहे, इसमें अपना क्या जाता है? हम तो इसे दंड समझते नहीं।" उनका खयाल था कि एक ओर तो प्रति विद्यार्थी तीन रुपये के लिए शब्दो की मारा-मार है और दूसरी ओर साढे सात सौ विद्यार्थियों का एक वर्ष नष्ट होने की संभावना है। इसमें कोई संदेह नही कि उनके आग्रह और समझौते की व्यग्रता के

पीछे विद्यार्थियो की हित-भावना थी। लडाई के गहरे अर्थ के बारे मे मैंने अपनी तमाम दलीलें उनके सामने प्रस्तुत की, किंतु मैं उन्हे नही समझा पाया। सौभाग्य से महात्माजी उस दिन अहमदाबाद मे ही थे। मैंने सेठ मगलदास से कहा—"इस विषय मे मैं अधिक कुछ नही कह सकता। इस लडाई को महात्माजी का भी समर्थन मिला है। वह सौभाग्य से आज अहमदाबाद मे हैं। आप उनसे मिलें और अपनी दलीलें उनके सामने रखें। जो कहेगे, वह हमें मान्य होगा।"

तुरत ही हम दोनो उनकी मोटर में बैठे। रवाना होने के बाद मैंने उनसे कहा—"हडताल के बारे मे एक समिति नियुक्त है, जिसमें विद्यार्थी भी हैं। इसलिए महात्माजी के पास जाने से पहले यह बात विद्यार्थियो के कान में डालना मुझे उचित प्रतीत होता है। कारण महात्माजी की बात मुझे स्वीकार्य होगी, किंतु विद्यार्थियो का क्या भरोसा ? इसलिए उनकी सम्मति लेकर हम आगे जायेंगे।" सेठ मगलदास ने बात मान ली और हम कालेज के पास जा पहुचे, जहा विद्यार्थी नित्य एकत्रित होते थे।

वहा हमने विद्यार्थियो के दो-तीन नेताओ को (सभवत श्री रोहित मेहता उनमें थे) मोटर के पास बुलाया। हम दोनो मोटर में ही बैठे हुए थे। बैठे-बैठे विद्यार्थियो के साथ बातचीत करते हुए मैंने कहा—"देखो भाइयो, तुम सब सेठ मगलदास को पहचानते हो। अपने शहर के यह प्रमुख नागरिक हैं। विद्यार्थियो का हित इनके हृदय मे बसा है। इनकी यह हार्दिक इच्छा है कि इस हडताल का अत होना चाहिए। यह किस प्रकार हो, इस बारे में महात्माजी की सलाह लेने सेठ साहब और मैं आश्रम मे जाते हैं। महात्माजी जो कुछ निर्णय दें, उसको तुम सब मान लोगे न ?"

उन्होने तुरत एक क्षण भी विचार किये बिना कहा—"अवश्य ! महात्माजी जो कुछ कहेगें, उसे हम अपने सिर-माथे पर चढायेंगे।"

केवल महात्माजी के नाम-मात्र से ये लोग क्षणिक आवेश मे आकर कोई निर्णय कर बैठें और बाद मे उन्हे असतोप हो और वे कोई अडचन पैदा करें, यह बात ध्यान मे रखकर मैंने विद्यार्थियो से कहा—"तुमने तुरत ही अपनी स्वीकृति तो दे दी है, किंतु यह भी सोच लो कि अगर कही महात्माजी ने यह निर्णय दिया कि तुमको दड देना चाहिए, परीक्षा मे बैठना चाहिए और

इसके अलावा तुम्हे शिराज से क्षमा मागनी चाहिए, तो क्या तुम उसे भी स्वीकार कर लोगे ? महात्माजी के निर्णय को मैं तो स्वीकार कर लू और तुम उसे स्वीकार न करो, ऐसी विषम स्थिति मे मैं पडना नहीं चाहता। तुम्हारे कोरे चेक का उपयोग महात्माजी की इच्छानुसार होनेवाला है, यह अच्छी तरह समझ लो।"

उन्होने तुरत ही कहा—"हा, हां, महात्माजी जो कहेगे, उसीको सिर चढायेंगे ; किंतु वह ऐसा कहेगे ही नहीं।"

इस पर मैंने उनसे कहा—"महात्माजी क्या कहेगे और क्या नही कहेगे, इस बारे में कल्पना से काम लेकर तुम स्वीकृति दो, यह मुझे उचित प्रतीत नही होता। तुम्हारी स्वीकृति खुले दिल से मिलनी चाहिए।"

इस प्रकार उन्हे मजबूत बनाकर हम दोनो अश्रम की ओर चल पडे।

हम दोनो को साथ देखकर महात्माजी ने हसते हुए हमारा स्वागत किया और हमारे आने का कारण पूछा। मैंने मन में निश्चय किया था कि मुझे अपनी हकीकत अथवा विचार महात्माजी के सामने नही रखना है। पहले सेठ मगलदास की हकीकत महात्माजी सुन लें और उसके बाद मुझे जो कहना हो, वह कहू। महात्माजी के साथ सेठ मगलदास ने आध घटा बात की। अंत मे महात्माजी ने कहा—"आप जैसा कहते हैं, वैसा तो कभी हो ही नही सकेगा।" अत. बात यही पूरी हुई और मेरे कुछ बोलने का अवसर ही नही आया।

हडताल के दौरान में एक छोटा-सा प्रसग और घटित हो गया, जिससे हडताल को भारी नैतिक बल मिला। उन दिनो अदालत में जो मुकदमे चल रहे थे, उनमे एक सेठ अबालाल साराभाई का भी था। उसके सिलसिले मे उनके बगले पर रात को श्री भूलाभाई देसाई, श्री छोटूभाई सोलिसिटर, सर चिमनलाल आदि नित्य एकत्र होते थे। अंबालालभाई जब-तब पूछते रहते कि हडताल किस प्रकार चल रही है। एक दिन सर चिमनलाल ने कहा—"मि० मावलकर, इस मामले की जड में आपका व्यक्तिगत झगड़ा प्रतीत होता है।"

यह सुनते ही मेरा युवा रक्त खौल उठा। मैंने तुरत ही कहा—"हा, सर

चिमनलाल इस मामले मे मेरा व्यक्तिगत झगडा होना ही चाहिए। मालूम होता है, आप उस विदेशी के तरीके को ज्यादा महत्व देते हैं जो छ हजार मील की दूरी से आया है और जिसे हमारी नौजवान पीढी मे तनिक भी दिलचस्पी नही है। वह अनुशासन के नाम पर विद्यार्थियो को अपनी इच्छा के आगे झुकाना चाहता है। उसकी बात का तो आपके निकट महत्व है और मेरे विचारो मे आपको व्यक्तिगत झगडे की गध आती है, हालाकि मैं इसी देश का रहनेवाला हू। विद्यार्थियो में से अनेक मेरे बहुत से मित्रो के सरक्षित अथवा सबधी हैं। उनमे से दो तो मेरे अपने अरक्षित हैं। आपने खुद कुछ समय पहले प्रिंसिपल को ठीक रास्ते पर लाने की कोशिश की थी और विफल रहे। तिस पर आप इस विदेशी की हरकतो को ठडा करने मे अपनी सत्ता या प्रभाव का उपयोग करने के बजाय मुझे ही कहते हैं कि मेरा व्यक्तिगत झगडा है। मेरा अगर व्यक्तिगत झगडा है तो यही है।"

सर चिमनलाल ने देखा कि मावलकर का दिमाग गरम हो उठा है। इसलिए उन्होने कोई बहस नही की। वह चुप हो गये। हमारी बात वही पूरी हुई।

उसी दौरान मे कुछ दिनो बाद एक और प्रसग घटित हुआ। सेठ अबालाल ने हमेशा की तरह पूछा—"कहो मावलकर, हडताल किस तरह चलती है ? नया-पुराना क्या है ?"

उस समय हडताल पूरे जोर पर थी। कालेज जानेवाले विद्यार्थियो में से दो-चार नित्य हडताल मे शामिल हो जाते थे। कालेज की उपस्थिति सख्या घटती जा रही थी। उस समय अबालाल भाई के पुत्र स्वर्गीय सुहृद और चि० भारती कालेज मे जाते थे। उनका मुख्य विरोध यह था कि 'दो-चार प्रमुख विद्यार्थी हमसे पूछे बिना ही सब कुछ तय कर डालते हैं, उनके आगे हम क्यो सिर झुकायें ?' मेरा हमेशा यह प्रयत्न रहता कि अपने पक्ष को नैतिक बल मिले। इसलिए सेठ अबालाल के प्रश्न का लाभ उठाकर मैंने कहा—"आजकल तो विद्यार्थियो को यही आश्चर्य है कि छात्रवृत्ति की खातिर गरीब विद्यार्थी कालेज मे रहकर प्रिंसिपल के दुर्व्यवहार को सहन करें, यह यह तो समझ में आता है, किंतु सुहृद और भारती किसलिए कालेज में जाते हैं ?"

इस पर सेठ अंबालाल ने उपरोक्त दलील दी। उस समय भूलाभाई पास ही थे। उन्होंने तुरत कहा—"नही, अंबालालभाई, मावलकर जो कहते हैं, वह सच है। थोडे से विद्यार्थियो ने जो निश्चय किया, वह पसद न आता हो तो भी पारस्परिक भाईचारे की भी एक भावना होती है। अत सुहृद और भारती के लिए कालेज में न जाना ही उचित मार्ग है।"

तरत ही श्री अंबालालभाई ने इन दोनों को बुलाकर कहा—"देखो, कल से अगर तुम्हारी कालेज न जाने की इच्छा हो तो मुझे आपत्ति नही।" हड-ताल को मजबूत बनानेवाली यह एक बडी विजय हमको प्राप्त हुई।

विद्यार्थियो की हडताल को अहमदाबाद की म्युनिसिपैलिटी ने भी एक प्रस्ताव स्वीकार करके अपना समर्थन दिया था। इसके अलावा प्रिंसिपल के आचरण की निंदा करने के लिए सेठ कस्तूरभाई लालभाई की अध्यक्षता में अहमदाबाद के सभी प्रमुख नागरिको की एक सभा हुई थी। इस हडताल से ही यह प्रेरणा और विचार मिले कि अहमदाबाद में एक ऐसा कालेज स्थापित किया जाय जो सरकार से सर्वथा स्वतत्र हो और जिसका सारा प्रबध अपने हाथो में हो। उसके फलस्वरूप सन १९२५ में 'अहमदाबाद एजु-केशन सोसाइटी' की स्थापना हुई। गुजरात यूनिवर्सिटी की स्थापना के लिए उच्च-शिक्षा के विद्यालय स्थापित करने चाहिए, इस दृष्टि से सन १९२७ मे लॉ कालेज (सर लल्लूभाई शाह) शुरू किया, किंतु उस समय यह विचार पैदा नही हुआ था कि सरकार से स्वतत्र कोई कालेज स्थापित किया जाय। इस हडताल से और उसके प्रति गोरे प्रिंसिपल और सरकार के रुख से उस समय विचार उत्पन्न हुआ कि प्रजा की अपनी शिक्षा-सस्थाएं होनी चाहिए।

: १० :

हड़ताल की सफलता की कुंजी

हडताल के दौरान में जैसे-जैसे दिन बीतते गये, यह स्थिति पैदा हो गई कि सरकारी छात्रवृत्ति पानेवाले गरीब विद्यार्थियो को छोडकर कोई भी विद्यार्थी कालेज में नही जाता था। हमने देखा कि उनमें हडताल में शामिल होने का

आग्रह करना उनपर अनुचित दबाव डालने-जैसा होगा अत सरदार वल्लभभाई की बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह के अनुसार हमने उनमे से आठ विद्यार्थियो के हस्ताक्षर प्राप्त करके निम्न निवेदन प्रकाशित कराया

"हम नीचे हस्ताक्षर करनेवाले गुजरात कालेज के विद्यार्थी अत करण से मानते हैं कि हमारे सहपाठी प्रिंसिपल के विरुद्ध जो वीरतापूर्ण लडाई लड रहे हैं, वह सत्य की लडाई है और अपना हक साबित करने के लिए वे जो प्रयत्न कर रहे हैं, उनके लिए हम उनका हार्दिक अभिनदन करते हैं। हमे खेद है कि अपने माता-पिता के दबाव या प्रतिकूल सयोगो के कारण हम इस लडाई में सक्रिय भाग नही ले सके। जो विद्यार्थी कालेज की कक्षाओ में उपस्थित नही होते, उनके प्रति हमारी सपूर्ण सहानुभूति है।"

इस निवेदन से प्रिंसिपलसाहब का गर्व चूर-चूर हो गया। उनको किसी प्रकार का भी नैतिक समर्थन नही रहा और विद्यार्थियो की शत-प्रति-शत नैतिक जीत हुई। इस प्रकार की लडाई का किस प्रकार सफल सचालन करना चाहिए, इसका भी एक अच्छा पदार्थ-पाठ हम लोगो को मिल गया।

हडताल कुल मिलाकर ३६ दिन चली। सफल हडताल के सगठन की कुजी यह है कि हडतालियो को हमेशा किसी-न-किसी काम मे लगाकर रखा जाय। इसके अभाव मे निठल्ले हडताली उपद्रव मचा बैठेंगे। अग्रेजी मे कहावत है—Idle hands are devil's workshop अर्थात बेकार मनुष्य शैतान का कारखाना बन जाते हैं। सध्या को नदी की रेत मे सभाए, दुपहर को कालेज के सामने व्याख्यान, दैनिक पत्रिकाओ आदि का पठन-पाठन आदि कार्यों मे विद्यार्थी अपने समय का ठीक-ठीक उपयोग करते थे, किंतु एक प्रकार से इसे काफी नही समझा जा सकता।

सन १९२१ मे अहमदाबाद में काग्रेस का अधिवेशन हुआ था, जिसमे बारडोली मे सत्याग्रह करने का निश्चय किया गया था। उसमे भाग लेनेवाले स्वयसेवको के लिए रचनात्मक कार्य की एक शर्त रखी गई थी और उसमे भी यह विशेष रूप से निश्चय किया गया कि हर स्वयसेवक को नियमित रूप से कातना चाहिए। उस समय और कई लोगो के समान मुझे भी प्रतीत होता था कि सविनय भग के साथ कातने का काम क्यो जोड दिया ? इस बारे में महात्माजी से एक बार मैने प्रश्न पूछा। उस समय उन्होने दक्षिण

अफरीका के प्रथम सत्याग्रह का उदाहरण देकर कहा—"जब हमने नाताल का पहला कूच शुरू किया, तो उसमें हमारे साथ करीब पांच सौ व्यक्ति थे। हम सबके दिल भावनाओं और उत्साह से भरे थे। सबने अत्यत प्रेम और एक दिल होकर कूच शुरू किया था, किंतु दो-तीन दिन में ही अनुभव हुआ कि इतनी बडी सख्या में मनुष्य के हर समय बिना किसी काम-धधे के रहने के कारण आपस में छोटी-मोटी बातो पर झगडे होने लगे और यह समस्या उठ खडी हुई कि उनको एकता और प्रेम की डोर में बाधकर किस प्रकार एक साथ रखा जा सकता है। इसलिए जहा तक बन पड़े, मनुष्यो को बेकार नही रहने देना चाहिए। रचनात्मक कार्यक्रम में चरखे की और कातने की जरूरत तो होती है ही। अत अवकाश के समय मनुष्यो को झगडे की जड न बनने देने के लिए उनको किसी-न-किसी काम मे लगा देने की योजना व्यापक आदोलनो मे होनी चाहिए।"

यह बात मेरे ध्यान में थी। साथ ही महात्माजी द्वारा सचालित मिल-मजदूर हडताल का उदाहरण भी हमारे सामने था।

इसीलिए हडताल के दौरान में विद्यार्थियो को उनके अध्ययन-सबधी विषयो का ज्ञान कराते रहने के लिए एक 'ज्ञान-सभा' की योजना भी की गई। इसमें आचार्य कृपलानी, प्रो० आठवले, श्री रसिकलाल परीख, श्री बाबू-राव ठाकुर, डा० तळवळकर, कुमारी भागवत, श्री पी० सी० शाह और डा० हरिप्रसाद आदि अध्यापक काम करते थे।

महात्माजी ने भी इसी दृष्टि से ता० ३-१-२६ के 'नवजीवन' में एक टिप्पणी लिखी थी, जिसमे उन्होने निम्न विचार प्रकट किये थे .

"इस हडताल का अच्छे-से-अच्छा परिणाम तो तभी आयेगा, जबकि विद्यार्थी किसी-न-किसी प्रकार का रचनात्मक काम मिल-जुलकर करेंगे। ऐसे अनेक काम है। इसी अक में अहमदाबाद के एक नागरिक का पत्र शहर की गदगी के बारे में छपा है। इस पत्र में गदगी का यथार्थ वर्णन है। इसमे लेखक ने बालको के मृत्यु-सबधी अक भी दिये हैं, जिन पर हमें लज्जा आनी चाहिए। इस गदगी को दूर करने का काम विद्यार्थी आसानी से कर सकते हैं। लोगों को इस गदगी को दूर करने का रास्ता दिखाकर वे शहर के आरोग्य में वृद्धि कर सकते हैं। इस काम में परोपकार है और कीर्ति है।

हिंदुस्तान के सभी विद्यार्थियो के लिए इस प्रकार का काम उदाहरणस्वरूप हो जायगा। नागरिको का उन्हे आशीर्वाद मिलेगा और हडताल को जल्दी निपटाने का मेरे विचार से यह एक सुदर मार्ग है।

"जब तक विद्यार्थी किसी काम में नही लगेंगे, तब तक उनके विचलित होने का भय है और शिराजसाहब भी तभी तक उन्हे तोडने की कोशिश करेंगे। विद्यार्थियो का कार्य-परायण होना उनकी ताकत की निशानी समझी जायगी और उनके बल की प्रतीति होने पर उन्हे फोडने के प्रयत्न बद हो जायेंगे और फिर उनके समाधान के ही प्रयत्न होगे।

"अहमदाबाद की गदगी दूर करने का काम तो एक उदाहरण रूप है। किंतु विद्यार्थी अपनी इच्छा और पसद के अनुसार ऐसा और कोई काम खोज लेंगे तो भी काफी होगा। मुख्य बात यह है कि विद्यार्थियो को एकत्र होकर लोकसेवा का रचनात्मक काम करना चाहिए।

"विद्यार्थियो ने अपनी जिस शक्ति का दर्शन किया है, वह जब सगठित होगी, तभी उसका उपयोग राष्ट्र को मिल सकेगा।"

: ११ :

लड़ाई की सफल पूर्णाहुति

प्रिंसिपलसाहब इस खयाल मे थे कि विद्यार्थी अधिक दिन अनुपस्थित नही रहेगे। कालेज के एक सत्र मे जितने दिन की उपस्थिति अनिवार्य होती है, उसकी सभावना अगर खत्म होती नजर आयगी, तो विद्यार्थी अपने-आप कालेज मे आने लगेंगे, क्योकि ऐसा न करने की दशा मे उनका एक वर्ष नष्ट हो जायगा। इसलिए प्रिंसिपलसाहब अपनी बात पर डटे हुए थे। किंतु विद्यार्थियो का निश्चय उनसे भी अधिक अडिग और सुदृढ था। इसलिए जब वह समय गुजर गया कि कालेज मे जाने पर भी सत्र की उपस्थिति पूरी न हो सके, तो उस दिन हम सब चिंतामुक्त हो गये। अब कालेज में दाखिल होने का कोई प्रयोजन शेष नही रह गया था। हमारी चिंता तो दूर हुई, लेकिन उसके साथ ही प्रिंसिपलसाहब और सरकार फिक्र के घेरे मे फस गये कि इस झगडे को समाप्त कैसे किया जाय ?

इसके वाद थोडे दिन के लिए खास अहमदावाद आने ही के लिए शिक्षा-मत्री ववई से रवाना हुए। किंतु प्रतिष्ठा 'कायम रखने के लिए उन्होने ऐसा दिखावा किया मानो वह भिन्न-भिन्न शिक्षा-केंद्रो को देखने के लिए आ रहे हैं। अत वह पहले सूरत पहुचे। वहा ठहरकर अहमदावाद आये। वह शाम की गाडी से अहमदावाद आने को थे। उस दिन श्री शिवदासानी मेरे पास आये और कहा—"मावलकर, शिक्षा-मत्री आज शाम को अहमदावाद आ रहे हैं। क्या आप उनको लिवाने मेरे साथ अहमदावाद स्टेशन चलेंगे ?" मैने उन्हे उत्तर दिया—"मैं उन महाशय को पहचानता नही। मैं आपकी तरह विधान सभा का सदस्य भी नही हू। मुझे उनके सामने कोई माग भी पेश नही करनी है, फिर मुझे स्टेशन चलने की क्या जरूरत ?" इस प्रश्न का उनके पास कोई उचित उत्तर नही था, इसलिए उन्होने कहा—"यदि वह आपसे मिलना चाहें तो क्या आप उनसे मिलेंगे ?" मैंने तुरत उत्तर दिया—"जरूर मिलूगा और शिक्षा-मत्री की हैसियत से उनकी प्रतिष्ठा वनी रहे, इस दृष्टि से जहा भी वह मिलना चाहें, वही मिलूगा।"

इसके वाद दूसरे दिन शिक्षा-मत्री के साथ मेरी भेंट की योजना की गई। सरकिट हाउस में हम मिले। वहा शिक्षा-मत्री के अलावा शिक्षा-संचालक श्री लोरी भी मौजूद थे। मैं यह समझता था कि मुझे अकेले शिक्षा-मत्री से ही मिलना है, इसलिए उनके साथ श्री लोरी को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, किंतु इस विषय में मैं कुछ वोला नही।

शिक्षा-मत्री ने वात शुरू की—"मि० मावलकर, गुजरात कालेज संवधी सारे हालात मैं जानना चाहता हू, आप वतायेंगे ?"

इस पर मैंने शुरू से सव हाल-चाल कहना शुरू किया, किंतु लगभग चार-पाच मिनट ही मैं वोल पाया होऊगा, कि इतने में शिक्षा-मत्री कुछ उतावली और अहकार के स्वर में वोले—"मुझे इस लवे व्यौरे की जरूरत नही, सक्षेप मे असल वात कह दीजिये।" मुझे उनका यह व्यवहार असभ्य और शिष्टचार के विपरीत प्रतीत हुआ। मैं तुरत कुरसी पर से उठ खडा हुआ और मैंने उनसे कहा—"मैं अपनी ओर से आपसे कुछ कहने आया नहीं हू। मुझे कहा गया कि आप सारी वात जानना चाहते हैं, इसलिए मैं आया

हूं। किंतु यदि आपकी सुनने की इच्छा नही है, तो मुझे भी आपसे कुछ कहने की जरूरत नही है। मै आपके पास कोई आवेदनकर्ता के रूप मे याचना करने नही आया हू।" इतना कहकर मैं चलने को हुआ, उसके पहले ही शिक्षा-मत्री समझ गये कि इस आदमी के साथ अहकारी व्यवहार नही किया जा सकता और उन्होने कहा—"आपको गलतफहमी हुई है। क्षमा करें। आपको जो भी कहने लायक लगे, वह पूरा-पूरा कहे। मैं वह सब शाति और ध्यानपूर्वक सुनूगा।" इस पर मैंने कहा—"यदि आपकी ऐसी इच्छा है तो मैं आपको सब-कुछ सुनाने के लिए तैयार हू। किंतु यह तभी, जब आपको पूरा-पूरा सुनना हो।"

इस प्रकार वातचीत की शुरूआत हुई और मैंने सब हाल कहा। यह वातचीत लगभग पौने दो घटे चली। उन्होने बीच-बीच में स्पष्टीकरण के लिए जो कुछ पूछा, वह भी मैंने कहा। वातचीत के अत में उन्होने कहा—"किंतु अब हमको क्या करना चाहिए, इस विषय मे आपकी क्या सलाह है?" मैंने उनसे कहा—"आपको सलाह देना मेरा काम नही। यह आपको विचार लेना चाहिए कि आपको क्या करना चाहिए।" किंतु जब उन्होने एक वार फिर आग्रहपूर्वक दवाव डाला, तो मैंने उनको चार मुख्य वातें करने की सलाह दी

(१) तमाम विद्यार्थियो की सत्र की हानि नही होनी चाहिए,

(२) ऐसा आश्वासन मिलना चाहिए कि प्रिंसिपलसाहब किसीके प्रति द्वेष-बुद्धि नही रखेंगे,

(३) किसीसे फीस या दड वसूल नही किया जाना चाहिए, परीक्षा लेना हो तो भले ली जाय, और

(४) इस किस्से मे शिराज के वारे मे विद्यार्थियो की जो धारणा वनी है, उसको देखते हुए शिराज को इस कालेज मे प्रिंसिपल के रूप मे न रखा जाय और उनकी जगह किसी दूसरे को प्रिंसिपल नियुक्त किया जाय।

मेरी अतिम वात सुनते ही शिक्षा-सचालक श्री लोरी कुरसी मे से चमक पडे और वोले—"यह कैसे हो सकता है?" मैंने कहा—"यह आपके विचारने की वात है। मुझसे पूछा, इसलिए मुझे जो उचित लगा, वह

सलाह मैंने दी। कालेज में शांति और विद्याभ्यास का वातावरण बना रहे, इसी दृष्टि से यह सुझाव दिया है।"

हमारी बातचीत यहां पूरी हुई और मुझे विदा करते शिक्षा-मंत्री बरामदे के नीचे, जहां मेरी मोटर खड़ी थी, वहां तक आये। यहां उन्होंने मुझसे कहा—"मि० मावलंकर, मैंने शिराज को कमरे में परदे के पीछे बिठा रखा था, इस आशय से, कि आपके ब्यौरे के संबंध में स्पष्टीकरण की आवश्यकता हो तो किया जा सके।" यह सुनते ही मैंने कहा—"तो आपने उन्हें बाहर कमरे में क्यों नहीं बुलाया? मैं उनसे बराबर जिरह करता।" इस पर वह थोड़े मुस्कराये और बोले—"मि० मावलंकर, क्या आपने एक बड़ी भूल नहीं की?"

"कैसी भूल?"

शिक्षा-मंत्री—"शिराज ने पहली बार आपके साथ जो समझौता किया, उसको लिखित रूप देकर उस पर आपने उनके हस्ताक्षर ले लिये होते तो कितना अच्छा होता?"

मैं—"अपनी यह भूल मानने को मैं तैयार हूं। आपके सामने ही नहीं, पर सार्वजनिक रूप से भी यह स्वीकार करने को तैयार हूं। यदि अदालत के सामने मुझे वादी-प्रतिवादी से आवेदन कराना होता, तो उस पर मैं उनके हस्ताक्षर जरूर लेता; किंतु मुझे क्या मालूम था कि विद्यार्थियों को सच्चाई और चारित्र्य का पाठ देने का दावा करनेवाले एक शिक्षा संस्था के प्रधान अधिकारी ऐसा प्रपंच रचेंगे? अब अगर आप चाहें तो मैं जरूर सब लोगों की जानकारी के लिए यह वक्तव्य दे सकता हूं कि मैंने कालेज के प्रिंसिपल के शब्दों पर भरोसा करके भूल की है।"

हमारी बातचीत इसके साथ समाप्त हुई और मैं घर की ओर रवाना हुआ। इसके दो या तीन दिन बाद सरकार ने प्रिंसिपल की मूल नोटिस वापस ले ली, दंड या फीस न लेने और प्रत्येक विद्यार्थी का सत्र मान लेने की घोषणा की, किंतु किसी भी विद्यार्थी के प्रति द्वेष-भावना नहीं रखने का आश्वासन नहीं दिया गया। सरकार जानती थी कि विद्यार्थियों को सलाह देनेवाली एक हड़ताल समिति है, जिसके प्रधान उनके साथ बात कर गये हैं, किंतु प्रतिष्ठा की खातिर सरकार ने हड़ताल-समिति को कोई

भी सूचना न देकर समाधान की शर्तों को प्रिंसिपल की मारफत कालेज-बोर्ड पर नोटिस चिपकाकर प्रकट किया। इस विषय में हमारा यह आग्रह नहीं था कि हडताल समिति के द्वारा ही काम हो, किंतु जब सरकार ने घोषणा अपने-आप की, तो हमने भी समाचार-पत्रो द्वारा विज्ञापित किया—"किसी भी विद्यार्थी को बदले की भावना से हैरान न करने का आश्वासन जब तक नही दिया जायगा, तब तक हडताल समिति विद्यार्थियो को कालेज में जाने की सलाह नही दे सकेगी।" हमारी इस घोषणा के फलस्वरूप दूसरे दिन इस प्रकार का आश्वासन देनेवाला नोटिस प्रिंसिपल ने कालेज-बोर्ड पर चिपकाया। उसके बाद दूसरे दिन कालेज अहाते के बाहर विद्यार्थी एकत्र हुए और वहा सरदार वल्लभभाई ने उनके सामने भाषण दिया। विद्यार्थियो का उनकी जीत पर अभिनदन किया और विजय पर उद्धत न होकर, विनम्र बनने और शिक्षकों की प्रतिष्ठा कायम रखने तथा उनके प्रति आदर-भाव रखते हुए विद्याभ्यास पुन शुरू करने की सलाह दी। इस प्रकार इस लडाई की पूर्णतया सुखद और सफल पूर्णाहुति हुई।

: १२ :

नगरपालिका स्कूल बोर्ड में हरिजन का स्थान

६-११-३२ को मैं अहमदाबाद नगरपालिका का तीसरी बार अध्यक्ष चुना गया। उसके तुरत ही बाद १६३२ के दिसबर मे नगरपालिका स्कूल बोर्ड के चुनाव हुए। नियमो के अनुसार अध्यक्ष के नाते मत-पत्रो की जाच करके उन्हे स्वीकार या अस्वीकार करने का काम मेरा था। स्कूल बोर्ड में अनुसूचित जातियो को खास एक स्थान दिया गया था। उस स्थान का चुनाव होना था। उसके लिए एक अत्यज जाति के भाई का और एक बारोट जाति के भाई का, इस प्रकार दो उम्मीदवारी-पत्र प्राप्त हुए। बारोट जाति स्पृश्य गिनी जाती थी और अत्यज जाति अस्पृश्य। अत्यज जाति के उम्मीदवार भाई ने यह मान लिया था कि यह खास जगह अस्पृश्य गिनी जानेवाली बारोट जाति के भाइयो के लिए ही कायदे के अनुसार सुरक्षित रखी गई है। किंतु वास्तविकता यह न थी। अनुसूचित जातियो की एक सूची

नियमो मे दी गई थी। उनमे से किसी भी जाति का आदमी उम्मीदवार हो सकता था। उस सूची में स्पृश्य और अस्पृश्य दोनो प्रकार की जातियो का समावेश था। इस नियम को न जानने के कारण अत्यज भाई ने मेरे सामने यह आपत्ति उठाई कि स्पृश्य गिनी जानेवाली वारोट जाति का भाई नियम के अनुसार उम्मीदवारी का पत्र दाखिल नही कर सकता। मैंने उसकी आपत्ति नियम के अनुसार सही न होने के कारण स्वीकार नही की और वारोट जाति के उम्मीदवार का उम्मीदवारी-पत्र नियमसगत ठहराया।

चुनाव तो अभी होना था। चुनाव में मै तथा मेरे साथी अत्यज भाई को ही मत देनेवाले थे, यह बहुत लोगो को पता था। फिर भी अंत्यज भाई को यह लग रहा था कि स्पृश्य जाति के भाई का उम्मीदवारी-पत्र कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? नियमो के अज्ञान के कारण उस भाई को मेरे प्रति बडा रोष हुआ और उसने मेरे विरुद्ध एक शिकायती पत्र २१-१२-३२ को यरवदा जेल में गाधीजी को लिखा। उसमें उसने लिखा—"···दूसरा उम्मीद-वार अत्यज जाति का नही, बल्कि स्पृश्य गिनी जानेवाली वारोट जाति का था। इस विषय में हमने अध्यक्ष महोदय का ध्यान खींचा। फिर भी उन्होंने कहा कि 'अत्यज जातियो में वारोट जाति भी गिनी गई है।' इसका स्पष्टी-करण करते हुए हमने कहा कि अंत्यज जातियो में जो वारोट जाति है, उसमें यह वारोट जाति नही गिनी जा सकती। फिर भी नगरपालिका के अध्यक्ष महोदय ने इस विषय में कुछ नही किया। हमको यह अनुभव हुए विना नही रह सकता कि इस प्रकार अत्यज जाति के स्थान के लिए स्पृश्य गिनी जाने-वाली जाति के भाई की उम्मीदवारी नियमित ठहराकर हमारा नियम-सगत हक छीन लिया गया है। उपरोक्त वारोट जाति स्पृश्य होने के कारण अत्यज जातियो मे शुमार की गई वारोट जाति नही हो सकती, यह सामान्य वुद्धि से भी समझा जा सकता है ··"

मेरे सामने तो प्रश्न यह था कि चुनाव के जो नियम हैं, उनपर अमल किया जाय। उन नियमो में स्पृश्य गिनी जानेवाली जातियों को रखने या न रखने का प्रश्न मेरे अधिकार-क्षेत्र के वाहर का था, इसलिए इसमें 'सामान्य वुद्धि' की गुजर कैसे हो सकती थी ? और मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि नियमो का गलत अर्थ लगाने की 'असामान्य वुद्धि' मेरे पास न थी।

इसी पत्र मे इस भाई ने आगे लिखा था कि "हम नगरपालिका के अध्यक्ष श्री मावलकर से तो ऐसी आशा कभी नही रखते थे कि स्पृश्य जाति के भाई की उम्मीदवारी अत्यज जाति के स्थान के लिए स्वीकार कर लेंगे। ऐसे अध्यक्ष जहा हो, वहा हमारे हक सुरक्षित नही रहे, तो दूसरे से हम क्या आशा रख सकते है ? इस विषय मे हम कुछ भी नही सोच सकते ?"

अत में लेखक ने गाधीजी से नम्र प्रार्थना की—"भविष्य मे हमारे हक सुरक्षित रहे और उनको पूरा रक्षण मिले और इस प्रकार की युक्तिपरक कठिनाइयो का सामना हमको न करना पडे, इसके लिए आप उचित कार्रवाई करने की कृपा करे "

हिंदुओ से अस्पृश्यो को अलग रखने के लिए अग्रेजो ने जो आज्ञाए जारी की थी और जिनके विरोध मे गाधीजी ने यरवदा जेल मे उपवास किया था, उसकी सुखद समाप्ति के बाद ही यह पत्र लिखा गया, यह बात ध्यान में रखने के लायक है।

गाधीजी ने इस भाई का असल पत्र मेरे पास भेज दिया। उसके साथ २३-१२-३२ को नीचे दिया एक छोटा-सा पत्र भी मुझे लिखा

"यह साथवाला पत्र तुम्हारी जानकारी के लिए है। मैने तो यह जवाब दिया है कि वास्तविकता से परिचित नही हू। यह मानता हू कि तुमसे अन्याय नही होगा। तुमको ·भाई से मिल लेना चाहिए। मुझे जो लिखना हो, वह लिखना।"

गाधीजी के पत्र से मुझे जितना सतोष और आश्वासन मिला, उतना ही इस भाई का पत्र पढकर दुख और आघात पहुचा। साथ ही गाधीजी की दृष्टि की तटस्थता, विशालता और साथी कार्यकर्ताओ के प्रति विश्वास से मुझे बल मिला। इन विशेष गुणो के कारण ही गाधीजी अनेक प्रकार के स्वभाव, वृत्तियो और विचारवाले व्यक्तियो को एकत्र कर सके और देश की आजादी की लडाई को सफलतापूर्वक चला सके।

गाधीजी के पत्र के जवाब मे मैंने एक लबा, सारी परिस्थिति पर प्रकाश डालनेवाला पत्र लिखा और चुनाव-नियमो की भी जानकारी दी।

इस समय आश्रम के पास वाडज में रहनेवाले छारा (कजर-सासी) जाति के लोगो से आश्रमवासियो को वडी परेशानी होती थी। इस विषय में

गांधीजी के लिखने पर नारायणदासभाई (गांधी) मार्गदर्शन के लिए मेरे पास आये थे। इस बारे में भी मैंने गांधीजी को लिखा था। मेरे इन दोनों पत्रों के जवाब गांधीजी ने ८-७-३३ को यरवदा जेल से निम्न पत्र लिखा :

"तुम्हारे दोनों पत्र मिले। मैंने कभी यह नहीं चाहा था कि तुम उत्तर देने में इतना अधिक समय दो। मुझे तो केवल प्राप्त पत्र तुम्हें भेजना था। किंतु तुम्हारा पत्र मिलने से प्रश्न पर विशेष प्रकाश अवश्य पड़ा है।

"छारा जाति के लोगों के बारे में कुछ कहने जैसा है ही नहीं। तुमने जो कुछ किया, वह काफी होता है या नहीं, यह बाद में लिखना।"

इसके बाद ता० १३-१-३३ के पत्र में उस अंत्यज भाई के पत्र के बारे में गांधीजी ने निम्न पंक्तियां लिखीं :

"......भाई के प्रश्नों को पढ़ा। हमारे पूर्वजों और हमारे वर्तमान भाइयों के पाप के कारण हमको यह सब सहन करना ही होगा, एक तो वहम, और उसमें स्वार्थ मिल जाये, तो फिर बाकी क्या रहेगा ? किंतु तुम्हारी पीठ मजबूत हो चुकी है, इसलिए इस प्रकार के प्रहार फूल जैसे हलके लगने चाहिए।"

पहले की अपेक्षा मेरी पीठ उस समय मजबूत तो हो चुकी थी, किंतु गांधीजी ने जैसा समझा था, उतनी मजबूत नहीं हुई थी; इसलिए मित्रों के वहम और निराधार आक्षेपों आदि से मुझे आघात लगता था। मुझे खुद को क्लेश होता, इसके अलावा इन आक्षेपों का और कोई असर नहीं होता था। किंतु अब तो मेरी पीठ वास्तव में मजबूत हो चुकी है; मैं इस निश्चय पर पहुंचा हूं कि दूसरे क्या करते या कहते हैं; इस ओर ध्यान देकर दुख मनाने में समय गवाने के बजाय अपने को सही लगनेवाला काम न्याय और सच्चाई के साथ करते जाना चाहिए और तिस पर भी किसी प्रकार के परिणाम या फल की आशा नहीं रखनी चाहिए। मेरा यह विश्वास और भी पक्का होता है कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' यही सच्चा जीवन-सूत्र है। स्वयं सुखी होने का और दूसरों को यथासंभव सुख पहुंचाने का यही मार्ग है।

: १३ :

कंजरों और सांसियों का प्रश्न

१६३२ के अत मे वाडज मे साबरमती आश्रम के पास कजर-सासी आकर बस गये थे और परिणामस्वरूप उनकी ओर से आश्रमवासियो को बहुत ही असुविधा होती थी। उनके आचरण से सब कोई सुपरिचित हैं। उपद्रव, मार-काट और चोरी आदि करके अपना जीवन-यापन करने में ये कुशल होते हैं। यह निश्चितत तो नही कहा जा सकता कि पुलिस से भी ये साठ-गाठ कर लेते हैं, किंतु इस सबके बावजूद निश्चय ही ये भारतीय तो हैं ही न ? और भारतीय स्वराज्य मे प्रत्येक जाति और वर्ग को ऊचा उठाकर उनका जीवन-विकसित करना स्वराज्य का एक मुख्य लक्ष्य था और है। देश में अमुक थोडे से व्यक्ति अथवा जाति तो सुख और समृद्धि मे रहे और भारी सख्या मे जातिया और लोग सर्वथा दरिद्र, अज्ञान और जगली-जैसी स्थिति में रहे, तो यह स्वराज्य की अपूर्णता कही जायगी। और सत्याग्रह आश्रम तो देश की स्वाधीनता के लिए तैयारी करनेवाली एव स्वराज्य की सर्वांगीण सेवा करनेवाले सेवक तैयार करनेवाली सस्था समझी जाती है। ऐसी दशा मे कजर-सासियो से होनेवाली असुविधा-सबधी प्रश्न बडा ही अटपटा और व्यापक दृष्टि से स्वराज्य का भी प्रश्न था, और इसीलिए आश्रम के उस समय के सचालक श्री नारायणदासभाई ने गांधीजी को पत्र लिखकर उनका मार्ग-दर्शन चाहा था। उस पर गाधीजी ने १५ दिसबर १६३२ को यरवदा जेल से मुझे निम्नलिखित पत्र लिखा था

"मैंने कजर-सासियो के उपद्रवो के सबध में तुमसे सलाह करने के लिए नारायणदास को सूचित किया है। तुमने क्या सलाह दी, यह मुझे लिखना। जो कुछ करो, उससे पहले मुझसे मालूम कर लिया जाय तो अधिक अच्छा हो। जो रास्ता निकालो वह हमे शोभा दे ऐसा ही होना चाहिए और ऐसा उपाय न मिले तो जो दुख होगा वह सहन करूगा।"

आस-पास रहनेवाले लोगो को कजर-सासियो से खतरा और भय था। बार-बार होनेवाली चोरियो आदि के कारण बताकर पुलिस से प्रबध करने

के लिए प्रार्थना करना तो एक सामान्य और सरल बात थी। किंतु जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, मुख्य प्रश्न यह था कि भारत में स्वराज्य स्थापित करवाने और सबकी सेवा करने की लगन रखनेवाले आश्रमवासी पुलिस द्वारा, अर्थात सरकारी तत्र का उपयोग करके, कजर-सासियो को भय बताकर व्यवस्था करें या नही ? उस समय सविनय कानून-भग का आदोलन पूरे जोरो पर था। उस समय हम खुले तौर पर कह रहे थे कि हम विदेशी शासन को स्वीकार नही करते और हमने उसके साथ असहयोग की घोषणा कर दी थी। ऐसी स्थिति मे, हमारे सामने यह तात्विक प्रश्न था कि कुछ भी हो, पुलिस अर्थात सरकारी सत्ता से हम कैसे प्रार्थना कर सकते है और अपने ही लोगो से अपनी रक्षा करने के लिए विदेशी सत्ता की सहायता कैसी मागी जा सकती है ? इससे यह स्पष्ट था कि आश्रमवासियो की ओर से जिला-कलेक्टर अथवा पुलिस को सहायता के लिए अर्जी नही दी जा सकती। ऐसी दशा मे फिर क्या उपाय किया जाय ?

मैंने इस प्रश्न के सबध में खूब विचार किया। मैं इस निश्चय पर पहुचा कि यह स्वाभाविक और उचित ही था कि आश्रमवासी तो इसके लिए प्रार्थना न करें, किंतु सरकार के विदेशी होने के बावजूद उसका जनता की शाति और रक्षा का कर्तव्य तो था ही और उसे यह कर्तव्य-पालन करना ही चाहिए, इसलिए सरकारी अधिकारियो को परिस्थिति से परिचित कराना आवश्यक था। लेकिन प्रार्थना करने की आवश्यकता प्रतीत होने पर भी आश्रम के लिए आगे बढकर ऐसा करना उचित नही था। सरकार ने आश्रमवासियो को असुविधा या कष्ट पहुचाने की दृष्टि से वहा सासी-कजरो को नही बसाया था, और उनसे आश्रमवासियो को ही नही बल्कि बाडज विभाग मे रहनेवाले भाई-बहनो को भी कष्ट था।

इसके सिवा मेरे सामने एक निजी प्रश्न यह भी था कि एक सार्वजनिक कार्यकर्ता और म्युनिसिपल अध्यक्ष के रूप मे मेरा खुद का क्या कर्तव्य है ? म्युनिसिपैलिटी का सरकार के साथ शत-प्रति-शत असहयोग नही था, और सार्वजनिक हित और सुख-सुविधा के अनेक कार्यों के सबध मे मुझे कलेक्टर-कमिश्नर आदि से मिलना पडता था। इसी प्रकार शहर की व्यवस्था-सबधी अनेक विषयो मे पुलिस के साथ मेरा सपर्क होता था। इसके सिवा एक

विचार यह भी था कि जनता, सरकार का कोई अस्तित्व है ही नही, यह समझकर अपना कारबार और जीवन चलाती हो, वस्तु स्थिति यह नही है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि सरकार के साथ पूरे असहयोग का सिद्धात आश्रमवासियो तक ही मर्यादित रहने दिया जाय और आश्रमवासियो के सिवा दूसरे लोगो को होनेवाली असुविधा और कष्टो को अधिकारियो के ध्यान में ले आना चाहिए, अर्थात उसमे भी यह तो ध्यान रखा ही कि उनसे किसी प्रकार की अर्जी अथवा प्रार्थना न की जाय।

मैंने अपनी निजी स्थिति, सार्वजनिक कार्यकर्ता तथा म्युनिसिपल अध्यक्ष के रूप में अपने कर्तव्य एव जनता की दुर्बलता आदि को लक्ष्य मे रखकर उपर्युक्त निर्णय किया था और कलेक्टर के साथ की अपनी एक मुलाकात में उनसे सासी-कजरो की आवादी से वाडज विभाग मे लोगो को होनेवाले कष्ट और परेशानी के सबध मे चर्चा की तथा श्री नारायणदासभाई को आश्रम-वासियो की ओर से और कुछ भी न करने की सलाह दी।

मैंने गाधीजी को पहले से सूचना दिये विना ही यह कदम उठाया था और इसलिए मैंने उन्हे लिखा कि इस कदम के उठाने के पहले मैं आपको लिख नही सका था किंतु यदि उसमे कुछ भूल हुई हो तो मुझे वह बताइये। इसके उत्तर मे गाधीजी ने २६ दिसवर १९३२ के अपने पत्र मे मुझे यह लिखा.

"तुमने जो कदम उठाया है, उसमे कोई भूल नही पाता। भूल का कोई प्रश्न ही न था। मुझे यही भय था कि मेरे थोडे से लिखे से कही कुछ गलतफहमी न हो गई हो। वैसे तो तुम्हारी सलाह भर लेने की मेरी सूचना थी। रोगी के पास वैद्य की भूल निकालने के साधन भी नही होते, अधिकार तो होता ही नही। 'समरथ को नही दोष गुसाई' यह वाक्य तीनो काल के लिए सत्य है। तुम्हारा लिखा कागज तो मैंने पढा नही, अव आवश्यकता भी नही है। इधर से मैंने कोई उचित कदम उठाने का विचार किया था, वह अव छोड दिया है। तुम्हारे प्रयत्न के परिणाम की प्रतीक्षा करूगा।"

और उसके वाद ८ जनवरी १९३३ के एक कार्ड में उन्होने लिखा:

"सासी-कजरो के विषय में तो कुछ कहने जैसा है ही नही। तुमने जो

कुछ किया है वह पर्याप्त होता है या नही, यह फिर लिखना।"

: १४ :

दादा, बापा और बापू

१९३२ के दिसबर मे पूज्य ठक्कर बापा ने गाधीजी की इच्छानुसार अत्यज-निधि एकत्र करने का काम अपने जिम्मे लिया था। बापा ने इस विषय मे उनकी सहायता करने के वास्ते मुझे सलाह देने के लिए गाधीजी (बापू) को लिखा था। मेरे दक्षिणी (महाराष्ट्रीय) होने के कारण मेरे गुजराती मित्र और साथी मुझे 'दादा' कहकर संबोधित करते थे। इनमें से किसीको इस बात का पता नही था कि मेरे घर मे मेरे बचपन से ही मेरा प्यार का नाम 'दादा' रखा था और दक्षिणियो मे प्रचलित प्रथा के अनुसार जब मैं वयस्क हुआ तो 'दादा' से 'दादासाहब' हो गया था। इस बात का भी गुजराती मित्रो को पता नही था और इसलिए सब मुझे लबे समय तक 'दादा' ही कहते रहे। बापा ने गाधीजी को लिखे अपने पत्र मे लिखा था—"अत्यज-निधि के सबध में दादा को लिखना।" इस पर से गाधीजी ने मुझे यरवदा-जेल से १३ जनवरी १९३३ को पत्र लिखा। उसमे उन्होंने 'दादा', 'बापा' और 'बापू' शब्द पर खूब विनोद किया। उन्होने लिखा .

"तुम दादा कब से हो गये, इसका मुझे पता नही। मेरे जन्म के पहले की बात होनी चाहिए। चिरकाल तक जियो और हरिजनो की सेवा करते रहो। बापा का कहना है कि तुम्हे अपने प्रभाव का उपयोग वैष्णवो के साथ करना चाहिए। वे (वैष्णव) ठाकुरजी के दर्शन भले ही न करने दें, किंतु मदिर-प्रवेश के काम के सिवा अन्य कामो के लिए तो मुक्त हस्त से द्रव्य दें। किंतु दात को जीभ क्या सिखावन दे ? और यदि 'बापा' का जोर 'दादा' पर न चले, तो पद्रह[1] वर्ष के नन्हें से 'बापू' की क्या बिसात है ? मैंने तो,

[1] गाधीजी के साथ सार्वजनिक कार्यों में मेरा पहला परिचय १९१७ में गुजरात सभा के मत्री के रूप में हुआ था। उसे लक्ष्य करके १५ वर्ष का समय लिखा है। दूसरे शब्दों में 'बापू' अर्थात 'नन्हा बच्चा' के अर्थ में

बापा ने जो मुझ पर बोझा लादा था, वह उतारा है। बापा का ऐसा ही कुछ कस्तूरभाई को भी लिखने का आदेश है। क्या उसके लिए तुम्हीको वकालतनामा सौंप सकता हू ?"

इस काम के साथ विनोदपूर्ण पत्र लिखते हुए गाधीजी ने लिखा था

"तुम अभी बीमारी से उठे हो, अत काम के साथ ही विनोद का सम्मिश्रण करने से पत्र लबा हो गया है, इसलिए कस्तूरभाई को लिखने का काम भी तुम्हे ही सौंपा है।"

इस पत्र का प्रारभ भी उन्होने विनोद मे ही करते हुए लिखा था·

"वीणा बहन ने भी तुम्हारी बीमारी की खबर दी थी। बीमारी वकील अथवा म्युनिसिपल अध्यक्ष को भी क्षमा नही करती! जल्द ही चलने-फिरने लगोगे, इतना ही अच्छा है।"

गाधीजी का लबा बनाया हुआ किंतु वास्तव में छोटा-सा यह पत्र केवल विनोद एव मधुरता का ही परिचय नही कराता, प्रत्युत उनकी उदारता और भिन्न-भिन्न सिद्धात रखनेवाले व्यक्तियो से काम निकलवाने की कला का भी एक नमूना है। किसी विषय में कट्टर वैष्णवो के साथ तीव्र मतभेद होते हुए भी उनके साथ विरोधी भाव एव किसी प्रकार की अनबन न रखते हुए उन्हे मदिर-प्रवेश के सबध मे अपने अत करण के विश्वास के अनुसार काम करने की छूट देकर, उन्होने हरिजनो की सामान्य प्रगति के लिए उनसे पैसे की माग की थी। गाधीजी की अद्वितीय और असामान्य सहिष्णुता का यह प्रकट दर्शन है। समाज के भिन्न-भिन्न अग एक-दूसरे के विरोधी नही, प्रत्युत सहयोगी हैं और इस सहयोग को जिस हद-तक विकसित किया जा सके, विकसित करके समाज शक्तिशाली और सुसगठित करने की कुजी इस परस्पर सहिष्णुता और उदारता में ही निहित है। गाधीजी का यह भाव जिस हद तक हम अपने जीवन एव आचरण में कार्यान्वित कर सकेंगे, उसी हद तक हमारा राष्ट्र सशक्त और सुसगठित होकर सच्ची स्वतनता का उपभोग कर

लिया जाय तो १५ वर्ष स्वभावतः ही एक छोटी-सी आयु गिनी जा सकती है।

सकेगा और वर्ग-विग्रह के झगडो से—कटुता से—मुक्त रह सकेगा।

: १५ :

सरदार की सलाह

सरकार ने १९३२ के आरभ मे ही और गाधीजी के लदन से गोलमेज-सम्मेलन से वापस आते ही अपनी दमन-नीति पूरे जोरो से शुरू कर दी थी। काग्रेस कार्य समिति बबई में ही गिरफ्तार कर ली गई और ५ मार्च १९३१ को हुए गाधी-अरविन समझौते को सरकार ने अपने-आप से समाप्त कर दिया। स्वतन्त्रता के आदोलन ने नया और उग्र रूप धारण कर लिया।

उस समय मै अहमदाबाद म्यूनिसिपल कमेटी का अध्यक्ष था और उसके जरिये राष्ट्रीय आदोलन मे जितनी अधिक सहायता दी जा सके, वह देने का मैने प्रयत्न किया। उस सबध का इतिहास अत्यत मनोरजक होते हुए भी प्रस्तुत लेखन योजना मे अप्रासगिक होने के कारण मै यहा उसके विस्तार में नही जाता। केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि १९३१ के नमक सत्याग्रह मे मेरे प्रत्यक्ष भाग न लेने के कारण, जनवरी १९३२ के अत मे सरकार ने 'आपात्कालिक शक्तियों' (इमरजेंसी पावर्स) के अंतर्गत भारी पैमाने पर जो गिरफ्तारिया की, उनसे मै अलग रखा गया था। निजी तौर पर मेरे साथ अग्रेज अधिकारियो का सबध मधुर और स्नेहपूर्ण होते हुए भी और इसी प्रकार म्यूनिसिपल कमेटी मे किये मेरे कार्यो के प्रति उनके मन मे आदर होते हुए भी, मेरे राजनैतिक सिद्धात, व्यवहार और उस विषयक म्युनिसिपैलिटी के मेरे कामो से उनमे भारी असतोष और विरोध था। उदाहरण-स्वरूप अधिकारियो का विरोध होते हुए भी मैने म्यूनिसिपल भवन पर राष्ट्रीय झडा फहराये रखा। इसी प्रकार म्युनिसिपल कमेटी की बैठक में ब्रिटिश राज्य के बहिष्कार का प्रस्ताव पास किया था। स्वदेशी को प्रोत्साहन देने के लिए म्युनिसिपल कमेटी की माल की माणिक चौकवाली दूकानें खाली करवाकर केवल स्वदेशी माल बेचनेवालो को ही किराये पर दी गई और स्थायी स्वदेशी मडल की स्थापना की गई। इस प्रकार की अनेक छोटी-मोटी बातो मे म्युनिसिपल कमेटी का रवैया स्पष्ट और असदिग्ध था।

कानून की मर्यादा में रहते हुए और आवश्यकता पडने पर कानून का अर्थ राष्ट्रीय दृष्टि से करके काग्रेस के आदोलन को पुष्टि देना मेरी स्पष्ट नीति और कार्यक्रम था।

प्रति वर्ष की भाति नवबर में म्युनिसिपल अध्यक्ष का चुनाव होनेवाला था। उस समय कई कारणो से मैं म्युनिसिपल अध्यक्ष पद छोडकर म्युनिसिपैलिटी के बाहर के रचनात्मक कार्यों मे अधिक समय लगाने की बात सोचता रहता था और इसलिए मेरे मन मे वार्षिक चुनाव मे उम्मीदवार न बनने का विचार उठता रहता था।

इसी अरसे मे गाधीजी ने २० सितवर १६३२ को हरिजनो के प्रश्न पर अपना ऐतिहासिक उपवास शुरू किया। इस पर मेरे मित्र सेठ अबालाल साराभाई का यह आग्रह होने के कारण कि ऐसे अवसर पर मुझे गाधीजी से मिलना चाहिए, मैं गाधीजी को तार देकर उनकी स्वीकृति प्राप्त कर अहमदावाद से पूना जा पहुचा। प्रसन्नता की बात यह हुई कि २६ सितवर की सायकाल को जिस समय मैं यरवदा-जेल के द्वार पर पहुचा, उसी समय समाचार मिला कि "ब्रिटिश प्रधान मत्री ने गाधीजी की बात मानकर अपने 'साप्रदायिक निर्णय' मे परिवर्तन कर दिया है, इसलिए गाधीजी उपवास समाप्त कर अभी मौसम्मी का रस ले रहे हैं।" मुझे तो इससे अपार आनद हुआ। यदि २४ घटे पहले यह बात हो गई होती तो कदाचित मैं गाधीजी से मिलने के लिए अहमदावाद से रवाना ही नही होता। लेकिन कुल मिलाकर मेरा वहा जाना अच्छा ही हुआ। उस समय गाधीजी जेल-अहाते के एक छोटे-से आम-वृक्ष के नीचे खाट पर लेटे हुए फल का रस ले रहे थे। उन्होंने मुस्कराते हुए मेरा प्रणाम स्वीकार कर मुझे मूक आशीर्वाद दिया। मेरे जीवन में यह एक ऐतिहासिक प्रसग था।

किंतु इस लाभ के साथ ही मुझे जो दूसरा लाभ मिला, वह सरदार तथा श्री महादेवभाई आदि के साथ मुलाकात का होना था। मैं कुल तीन बार यरवदा-जेल मे गाधीजी के अहाते में गया और वहा रहा। उस समय वहा जाने और वापस लौटते समय गाधीजी को प्रणाम करने के सिवा उनसे कोई खास बातचीत मुझसे नही हो पाती थी। पहली बार ही गाधीजी "कैसे हो ?" आदि जो कुछ प्रश्न करते, बस वही बातचीत और शेष समय सरदार

वल्लभभाई के साथ बैठकर गुजरात के आदोलन और खासकर म्युनिसि-पैलिटी के काम-काज के बारे मे खूब बातें की। कांग्रेस के गुप्त कार्य के संचालन की जो जिम्मेदारी मेरे ऊपर थी, उसके सबध मे भी बातें की। कई बातो मे सरदार की सलाह और मार्ग-दर्शन प्राप्त किया। इस बातचीत के दौरान में जब मैंने नवबर में होनेवाले म्युनिसिपल अध्यक्ष के चुनाव में अपने उम्मीदवार के रूप में खडे होने की अपनी अनिच्छा प्रदर्शित की, तो उन्होने मुझे सलाह दी—"दादा, अभी जबतक हमारा स्वातत्र्य-सग्राम चालू है, तब तक तुम्हे म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष-पद नही छोडना चाहिए। अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी में हो रहे कामो से अपने आदोलन को अच्छा सहारा लगता है। लोगो मे साहस बना रहता है। हमें बंबई प्रात के पत्रो में म्युनिसिपैलिटी के कामो का कोई खास विवरण पढने को नही मिलता, किंतु दूसरे प्रातो के पत्रो में और खासकर पजाब के पत्र 'ट्रिब्यून' में यह विवरण विशेष रूप से देखने को मिल जाता है और इससे लोगो को प्रेरणा मिलती है। इसीलिए, कुछ भी हो, तुम्हे म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष-पद नही छोडना चाहिए।"

इस प्रकार उनकी सलाह और इच्छा को शिरोधार्य करने मे ही मेरा भला था। मुझे इस बात से भी आश्चर्य हुआ कि अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी के रवैये और कार्य पर समूचे हिंदुस्तान की दृष्टि थी। सरदार की सलाह के फलस्वरूप नवबर १९३२ के चुनाव मे मैं खडा हुआ और उसमें सफल हुआ।

: १६ :

आजादी की लड़ाई का पीछे रहकर संचालन

उस समय म्युनिसिपैलिटी के काम के अलावा मैं काग्रेस की जो लडाई चल रही थी उसका काम कर रहा था। इसमे दो मुख्य काम थे—एक तो चल रहे सघर्ष के सचालन का पीछे रहकर मार्ग-दर्शन करना और उसके लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करना। मुझे बाहर से बहुत अधिक रकम इकट्ठी करने की आवश्यकता नहीं पडी, क्योंकि शुरू मे ही मेरे हाथ में काफी रकम

आ चुकी थी। लेकिन इस रकम को सभाल कर रखना और उसके फिजूल खर्च न हो जाने अथवा उसका दुरुपयोग न होकर आदोलन के ही काम में ठीक से उपयोग हो, इसका ध्यान रखना वडा कठिन था। यदि अधिकारियो को यह जानकारी हो जाय कि इस काम मे मेरा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ है, तो यह निश्चय था कि वे मुझे गिरफ्तार करके दो-चार वर्ष के लिए जेल भेज देते। मुझे इसकी भी परवाह नही थी, किंतु यह निश्चित रूप से सभव था कि सरकार को मालूम होते ही कि रकम कहा और कितनी है, वह उसे जप्त कर लेती। सौभाग्य से सेठ कस्तूरभाई तथा अन्य सज्जन काग्रेसी मित्रो ने स्वय खतरा मोल लेकर मेरी जो सहायता की, उससे मै यह काम सभाल सका। इसके लिए ईश्वर का तथा मित्रो का मै आभारी हू।

दूसरी वात ब्रिटिश माल के वहिष्कार की थी। १६३२ के अत तक अहमदाबाद की वहुत सी मिलो ने अपनी मिलो मे वृद्धि करने के लिए जरूरी मशीनो के लिए इग्लैड को खरीदी के पत्र भेजे थे। चि० मृदुला साराभाई ने इसके विरुद्ध आदोलन खडा किया था। वह चाहती थी कि किसी भी तरह मिलवाले मशीनो के इन सौदो को रद्द कर दें। कितु मिलवालो के लिए इन्हे रद्द करना प्रत्यक्षत असभव जैसा ही कठिन था। एक तो इससे सरकार उनसे नाराज हो जाती, दूसरे हरएक को यह भी डर था कि कही सरकार उन्हे जेल में डाल दे, तो ? उनका यह डर सर्वथा निराधार भी नही कहा जा सकता था। मिलवाले थोडी-बहुत आर्थिक हानि तो सह सकते थे, कितु जेल का भय उनके लिए वहुत वडा था। दूसरी ओर सौदा भग करने के परिणाम-स्वरूप काफी बडी रकम की जिम्मेदारी उन पर आ पडती और इससे हर किसी मिल की स्थिति गभीर हो जाने की भी वहुत सभावना थी। मिलवाले मुझे पहचानते थे और उनमें से वहुत से मेरे मुवक्किल भी थे, इसलिए स्व-भावत ही इन परिस्थितियो में ऐसा रास्ता निकालने की जिम्मेदारी मुझ पर आ पडी जो काग्रेस के भी अनुकूल हो और जिसे मिलवाले भी हजम कर सकें। मिलवालो और चि० मृदुलाबहन दोनो के बीच मैं कडी वना। दोनो पक्ष कभी-कभी एक साथ, कितु अधिकतर वारी-वारी से रात्रि के अधेरे मे मेरे घर आते और उनके और मेरे वीच चर्चाए होती और इन चर्चाओ के परिणामस्वरूप अत मे हम सव इस निर्णय पर पहुचे कि मिलवाले अभी

ग्लैंड के मशीन बनानेवाले कारखानों को यह सूचना दे दें कि हिंदुस्तान की आजादी की लडाई के कारण जो राजनैतिक स्थिति है, उसमें आवश्यक रकम खडी करके मशीनरी ले सकने की स्थिति में नही है, इसलिए सौदा पूरा करने की अवधि में कम-से-कम छ महीने की वृद्धि करना आवश्यक है। इसमें एक मुद्दा यह भी था कि लगभग एक करोड़ रुपये के इन सौदो के स्थगित होने का, इग्लैंड के मन्त्रिमडल पर, कुछ असर होने की सभावना हो सकती थी और ऐसा होने पर ब्रिटिश सरकार मार्च या अप्रैल १९३३ में हिंदुस्तान के राजनैतिक अधिकारो के सबध मे भी जो श्वेत-पत्र प्रकाशित करनेवाली थी, उसमें हिंदुस्तान को कुछ विशेष लाभ मिल सकता था। इस प्रकार मशीनो के भारी रकम के सौदो का स्थगित रहना भी काग्रेस के ब्रिटिश माल-बहिष्कार का एक छोटा-सा अग था।

किंतु इस समझौते में एक बडा प्रश्न यह था कि मशीनरी का आर्डर देनेवाले मिलवाले आगे जाकर अपने वचनो का पालन करेंगे या नहीं ? कुछ के बारे में तो यह भरोसा था कि वचन का पालन करेंगे, उसी तरह यह भी निश्चित था कि काग्रेस-आदोलन का जोर कम होते ही कुछ लोग पालन न भी करें। इस प्रकार के परस्पर अविश्वास के वातावरण में किसी ऐसे मध्यस्थ की आवश्यकता थी, जिसके शब्दों और शुद्ध बुद्धि पर दोनों पक्ष विश्वास रखकर चल सकें। इसलिए मध्यस्थ बनने की यह जिम्मेदारी मुझे उठानी पडी और मशीनों के आर्डर देनेवाले सब मिलवालो ने अपने आर्डर अप्रैल १९३३ तक के लिए मुल्तवी कर दिये। इस सबध की लिखा-पढी के कागज-पत्र भी मेरे पास ही रखे गये, यद्यपि यह सारी लिखा-पढी कानूनी की अपेक्षा नैतिक ही अधिक थी।

सन १९३२ के अतिम दिनों में मैं कुछ दिन बीमार रहा और उसके बाद कुछ ही समय में इग्लड मे इस बहिष्कार से बडी हलचल मची। परिणामस्वरूप बबई सरकार के ऊपर ब्रिटिश सरकार का दबाव पडने पर बबई सरकार ने इस बहिष्कार का आयोजन करनेवालो के विरुद्ध कार्रवाई करने का निश्चय किया। इसके परिणामस्वरूप मेरे और मृदुला बहन के खिलाफ सरकार ने गुप्त जाच करवानी शुरू की

: १७ :

कलेक्टर के सामने मेरा बयान

१९३२ के अंत मे मैं कुछ अधिक बीमार हो गया। इसका मुख्य कारण तो काम का बोझ और उसके परिणामस्वरूप शरीर और मन पर पडने-वाला दबाव था। इसी अरसे मे मेरे प्रथम दो पुत्रो के यज्ञोपवीत का प्रसग भी आ गया। उसके कारण भी कुछ अधिक भार खीचना पडा था। इस अवसर पर गाधीजी और उनके जेल के साथियो—सरदार श्री वल्लभभाई तथा श्री महादेवभाई—का आशीर्वाद प्राप्त करना जरूरी है, यह समझकर मैंने उन्हे पत्र लिखा। उसके उत्तर मे यरवदा जेल से गाधीजी का २७ जनवरी १९३३ का निम्नलिखित पत्र मिला

"तुम्हारा पत्र मिला। दोनो नवद्विज दीर्घायु हो और यज्ञोपवीत को शोभित करें।

"दुर्बलता धीरे-धीरे कम होती जाती होगी।"

मेरा स्वास्थ्य तो सुधार पर था, किंतु कमजोरी बनी हुई थी, और कई दिनो तक तो मुझे ज्वर भी आता था, जिसके कारण मैं कुछ समय तक रोगशय्या पर ही रहा। डाक्टरो की सलाह थी कि मुझे विश्राम की आवश्यकता है, इसलिए चार-छ महीने के लिए विदेश चला जाना चाहिए। हिंदुस्तान मे रहते हुए आवश्यक विश्राम मिल नही सकता, इसलिए इग्लैड जैसे सुदूर स्थान पर जाने की उनकी सलाह थी। इस बीमारी के समय ही पेशाब की जाच होने पर इस बात का निश्चित पता चला कि मुझे मधुमेह रोग है। डाक्टरो की सलाह के अनुसार मैंने इग्लैड जाने का विचार किया और इसके लिए अपना १९२८ का पासपोर्ट फिर नया करवाने के लिए आवश्यक अर्जी देने के लिए कलेक्टर के दफ्तर से पूछ-ताछकर फार्म मगाने की व्यवस्था की। मेरी ओर से व्यवस्था करनेवाले बधुओ ने कलेक्टर के दफ्तर से आने के बाद सूचना दी कि कलेक्टर के दफ्तर मे मेरे विरुद्ध इमर्जेंसी पावर्स एक्ट के अतर्गत कार्रवाई किये जाने का विचार चल रहा प्रतीत होता है। इस पर से मैंने सोचा कि यदि इस समय मैंने हिंदुस्तान

छोडकर विलायत जाने की चर्चा की, तो कही ऐसा न हो कि अधिकारी और जनता दोनो यह मान बैठें कि दादा को जेल जाना नही था, इसलिए डाक्टरो की सलाह का बहाना लेकर विलायत भाग गये। कोई ऐसी धारणा बनाता तो उसमे आश्चर्य जैसी कोई बात नही थी। इसलिए मैंने विलायत जाने का विचार तत्काल छोड दिया।

इसके पश्चात दो दिन बाद मुझे कलेक्टर श्री इर्विन का पत्र मिला। वह जानते थे कि मैं बीमार हू, इसलिए उनका पत्र अत्यत विवेकपूर्ण था। उन्होंने इतना ही जानना चाहा था कि "मुझे कुछ आवश्यक कार्य है, अत क्या आप आकर मुझसे मिल सकेंगे ?" क्या काम है यह मैं समझ गया, और इसलिए थोडा ज्वर होते हुए भी चिट्ठी मिलने के दूसरे ही दिन शाही बाग स्थित उनके बगले पर उनसे मिलने के लिए चला गया। वह वहा नही थे, इसलिए अपने आने की सूचना देते हुए उनके लिए चिट्ठी छोड आया। उसमें यह भी लिख दिया था कि तबीयत जरा ठीक होने पर फिर आऊगा।

तबीयत जरा ठीक होने के बाद समय लेकर दो-तीन बाद २७ फरवरी १९३३ की प्रात मैं उनके बगले पर फिर गया। उन्होंने अत्यत सज्जनता-पूर्वक मेरे स्वास्थ्य के बारे में पूछ-ताछ की और फिर मुझसे कहा—"मुझे बडा खेद है कि आपके विरुद्ध कुछ कार्रवाई की जाने की स्थिति पैदा हो गई है और इसलिए मुझे आपका बयान लेना है।' बयान का विषय था ब्रिटिश-बहिष्कार और मिलो के बहुसख्यक आर्डरो का स्थगित किया जाना। काग्रेसवालो की ओर से अहमदाबाद के मिलवालो पर इस प्रकार का दबाव डाला जाता है कि वे अपनी इच्छानुसार मिल नही चला पाते। इस विषय पर दुख व आश्चर्य प्रकट करते हुए उन्होंने पूछा—"मि० मावलकर, सार्वजनिक कार्यो के सबध मे आपकी बड़ी प्रतिष्ठा है। काग्रेसवालो के साथ भी आपके अच्छे सबध हैं। ऐसी दशा में क्या आप ऐसी स्थिति का कोई उपाय नहीं कर सकते ? मुठ्ठी-भर काग्रेसवालो के दबाव से जनता भयभीत रहे, यह कोई वाछनीय बात नही।" उत्तर मे मैंने केवल इतना ही बताया कि मुठ्ठी-भर काग्रेसवालो का दबाव होने की बात मिथ्या है। लोकमत सारा ही काग्रेस के पक्ष में है और वे थोडे-से लोग जो लोकमत

के विरुद्ध जाना चाहते हैं, स्वय ही लोकमत के कारण उसके विरुद्ध होने का साहस नही कर पाते। लोकमत हिंदुस्तान के लिए स्वराज्य चाहता है, जबकि आपकी सरकार दमन नीति चला रही है। ऐसी स्थिति मे मैं क्या उपाय कर सकता हू ? आपकी सरकार यदि मुझ जैसे की सलाह ले और मानने को तैयार हो, तो तत्काल समस्या हल हो सकती है, किंतु आपकी सरकार को आतक के बल पर अपनी मनचाही करनी है, इसलिए मैं इनमे से किसीने कुछ कह नही सकता। समस्या का वास्तविक हल तो सरकार के ही हाथ में है।"

इसके बाद उन्होंने मेरा बयान लेना शुरू किया। वह जबानी और लिखित दोनो ही तरह का था। उन्हे पता था कि इस काम मे चि० मृदुला नेतृत्व कर रही है। इतने पर भी उन्होने मुझसे प्रश्न किया—"इस बहिष्कार के आदोलन मे कौन-कौन काग्रेसजन हैं ?" मैंने उन्हे जवाब दिया—"ये कौन-कौन लोग हैं, यह मैं कहना नही चाहता।" इसलिए इस पर वह रुक गये और उन्होंने मेरे सबध मे ही पूछना शुरू किया। मैंने उन्हे बताया कि मेरे पास काग्रेसवाले भी आते थे और मिलवाले भी आते थे तथा मशीनरी के आर्डर स्थगित रखने की सलाह देकर स्थगित करवा दिये गये थे। पूछे जाने पर मैंने यह भी बताया कि इग्लैंड पर दबाव डालने के लिए ब्रिटिश माल के बहिष्कार की कल्पना इसमे निहित थी। आनेवालो मे काग्रेसवाले कौन थे, यह बताने से मैंने इन्कार कर दिया।

कलेक्टर के मन मे स्वय मेरे प्रति आदर और सद्भावना थी, अत जब मैंने ब्रिटिश माल के बहिष्कार की बात स्पष्ट रूप मे स्वीकार की, तो वह जरा रुके और बयान लिखना बद करके उन्होने मुझसे कहा—"मि० मावलकर, आप इसे बहिष्कार किसलिए कहते हैं ? इसके बजाय आप सौम्य शब्द 'स्वदेशी' का प्रयोग क्यो नही करते ?" उत्तर मे मैंने कहा—"मैं स्वदेशी कहू तो वह असत्य होगा, कारण मशीन मिलवाले लेना चाहते थे, वे हिंदुस्तान मे बनती नही हैं, इसलिए मिलवालो के लिए विदेशी मशीनें लेने पर ही छुटकारा हो सकता था। और हमारा मुद्दा यह था कि भले ही विदेशी मशीनें लें, किंतु ब्रिटिश-निर्मित न लें और इसलिए मैं इसे स्वदेशी के अग के रूप मे नही कह सकता। यह तो सीधा बहिष्कार का ही एक अग

है।" इतना कहकर मैंने उनसे पूछा—"अभी तो आपने किसी भी देश के बने हुए माल का वहिष्कार करना कानून विरुद्ध घोषित नही किया है न ?" वह अधिक नही बोले, मेरा बयान पूरा करके उन्होंने अत्यत स्नेह के साथ हाथ मिलाकर 'आप विश्राम करके शीघ्र अच्छे हो जायें' यह शुभेच्छा प्रदर्शित की। मैं वहा से घर लौट आया।

: १८ :

मेरी गिरफ्तारी और साबरमती जेल के लिए रवानगी

तीसरे दिन (२ मार्च १९३३) पुलिस के डिप्टी सुपरिंटेंडेंट श्री वरियावा बडी सुबह मेरे मकान पर आये। मैं सो रहा था। मेरे नौकर ने मुझे जगाकर उनके आने की सूचना दी। मैंने उन्हे ऊपर बुलाया। उन्होंने मुझसे कहा—"खेद है कि मुझे आपको गिरफ्तार करके भेजने का आदेश हुआ है।" हसते-हसते मैंने उनसे कहा—"आपको खेद करने की आवश्यकता नही, मझे आराम की जरूरत थी, वह अब अनायास ही मुझे मिल रहा है।"

इसके बाद पडोसी मित्रो को तथा म्युनिसिपल इजीनियर श्री मलिक को बुलाकर मैं सबसे मिला और सबके साथ चाय पी, बिस्तर-बैग आदि पुलिस सुपरिंटेंडेंट की मोटर में ही डलवाकर हम रवाना हुए। जेल जाते हुए मार्ग में स्वर्गीय दीवान बहादुर हरिलाल देसाई का बगला था, वहा पाच मिनट मोटर रुकवाकर मैं उनसे मिला और उनसे विदा ली। मुझे उस समय स्वप्न में भी खयाल नही था कि यह उनसे मेरी अतिम विदा होगी।

मार्ग मे सत्याग्रह-आश्रम के पास मोटर आने पर मैंने पुलिस के सुपरिंटेंडेंटसाहब से वहा पाच-दस मिनट मोटर रोककर श्री नारायणदास-भाई से मिल लेने की इच्छा प्रदर्शित की। मुझे उनसे कोई विशेष बात तो कहनी नही थी, किंतु विदा लेने मात्र की इच्छा थी। उसके अनुसार श्री नारायणभाई थोडे-से आश्रमवासियो के साथ सडक पर मोटर के पास

मुझसे मिलने आये। यहा एक अत्यत मनोरजक घटना हो गई। आश्रम मे कौन आता है, कौन जाता है, आदि बातो की देख-रेख रखकर नोट करने के लिए खुफिया पुलिस का एक आदमी वहा रखा जाता था। हमारी मोटर वहा रुकी, श्री नारायणदासभाई और आश्रमवासी हमसे मिलने आये। यह बात उसने देखी और डायरी मे नोट करने लगा। इस पर पुलिस सुपरिंटेंडेंट श्री वरियावा ने मुझसे कहा—"देखिये साहब, हमारे पुलिसवाले कैसे बे-अक्ल होते हैं। इसने तो आपका और मेरा नाम भी नोट करना शुरू कर दिया।" मैंने हसकर कहा—"इसका क्या अपराध ? यह बेचारा तो हुक्म का बदा है। आपको ऐसे सेवको की कदर करनी चाहिए कि सौपा हुआ काम बिना किसीका लिहाज किये ठीक तरह अदा करते हैं।" श्री वरियावा ने इस भाई को अपने पास बुलाया और पूछा—"तुम मुझे जानते हो ? क्या लिखना चाहते हो ? क्या पुलिस सुपरिंटेंडेंट की गाडी आश्रम के पास रुकी, यह ? हम यहा रुके, इस विषय में तुम्हे अपनी डायरी मे कुछ भी दर्ज नही करना है।"

हम जेल के दफ्तर मे पहुचे। वहा मैं जेलर के कमरे मे कुर्सी पर बैठा हुआ जेलर की प्रतीक्षा कर रहा था कि इसी बीच ऐसी ही एक और भावपूर्ण घटना घटी। जेल-पुलिस का एक सिपाही मेरे सामने आया और सलाम करके खडा हो गया और उसने मराठी में कहा—"साहब, आपके दर्शनो की बहुत दिनो से मेरी इच्छा थी। आप मावलकर हैं, और हमारे ही गाव के हैं। मैं मावलग गाव का ही रहने वाला हू इसलिए मैं भी मावलकर ही हू। आपके दर्शनो से मैं गौरव अनुभव करता हू, किंतु दु ख है कि मुझे आपके दर्शन इस जगह हुए।" यह कहकर उसने अत्यत भावपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा और दोनो हाथ जोडकर मुझे प्रणाम किया। अवश्य ही हम दोनो मावलग गाव के थे, किंतु मेरे परिवार को मावलग छोडे लगभग पौने दो सौ वर्षों से अधिक समय हो गया था। हम एक-दूसरे को परस्पर जानते या पहचानते तक न थे, इतने पर भी उसका अपने गाव के प्रति ममत्व ही मेरे प्रति आकर्षण का कारण था।

साबरमती जेल में मुझे कुल जमा १८ दिन ही रखा गया। इस बीच मेरी तबियत ठीक नही रही। नित्य शाम को मद ज्वर हो आता और इसके

साथ संग्रहणी का भी प्रकोप था। दुर्बलता बहुत बढ गई थी। उस समय सर चिनूभाई अपनी मिलो के काम से इंगलैड जाने का विचार कर रहे थे। वह चाहते थे कि मैं उनके कानूनी सलाहकार के रूप मे उनके साथ रहू तो अच्छा हो। उनका एक उद्देश्य यह भी था कि इस बहाने से मैं अपने स्वास्थ्य सुधार के लिए इंगलैड जा सकूगा और साथ-साथ सरकारी दमन से भी मेरा छुटकारा हो जायगा। मुझे जो सजा मिली थी और आगे मिलनेवाली थी, उससे इस प्रकार मे मुक्त होने का प्रयास करना मुझे अप्रमाणिक और अनुचित प्रतीत होता था। इतने पर भी सर चिनूभाई कलेक्टर मे यह चर्चा कर आये थे कि वह मुझे साथ ले जाना चाहते हैं। जवाब में कलेक्टर साहब ने कहा—"अगर श्री मावलकर मुझसे यह बात कहे तो मैं अवश्य ही उनके छुटकारे का उपाय करूगा।" इस सबध मे सर चिनूभाई का सदेश मिलने पर मुझे बडी बेचैनी हुई। इनका आडे-टेढ़े तरीके से निकाला हुआ रास्ता उचित नहीं था, इसलिए मैंने अपनी अनिच्छा प्रकट की। किंतु सर चिनूभाई के आग्रह के कारण मैंने उन्हें बताया कि इस विषय मे पहले मेरी माताजी का विचार जानना चाहिए, उसके बाद मे अधिक विचार करूगा। मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि मेरी माताजी ने उन्हे तुरत ही उत्तर दिया कि दादा कलेक्टर साहब, को लिख ही कैसे सकते हैं? यह तो आडे-टेढे तरीके से बचने का और खेद प्रकट करने का प्रयत्न समझा जायगा। इसीलिए आपको उनसे ऐसा आग्रह नही करना चाहिए। और इससे चिनूभाई की विलायत जाने की बात भी जहा की तहा ही रुक गई।

: १६ :

जेल-परिवर्तन और निर्वासन

१६ मार्च की रात के सात बजे के लगभग मुझे अहमदाबाद-जेल से हटाया गया। हमें कहा जाना है, इसकी कोई जानकारी नही दी गई। जेल के दफ्तर में चि० मृदुला तथा बचुभाई ध्रुव मुझे मिले और हम तीनो को एक साथ स्टेशन पर ले जाया गया। स्टेशन मे बाहर हमारी पुलिस-वान खडी रही। इस बीच वहा मेरी माताजी, पत्नी तथा बच्चे मुझसे मिले।

ऐसा मालूम होता है कि किसीने हमारे जेल-परिवर्तन की सूचना उन्हे पहले से दे दी थी। हम अहमदाबाद से रात को गुजरात मेल से रवाना हुए, तब तक हमारा खयाल था कि हमे नासिक जेल मे ले जाया जाता होगा।

प्रात दादर स्टेशन पर चि० मृदुला और बचुभाई को उतारा गया, तब मैने अनुमान किया कि मुझे नासिक न ले जाकर शायद और कही ले जाय। किंतु कहा, यह कुछ पता नही था। बबई की आर्थर रोड जेल, थाना जेल अथवा और कही भेजे जाय, इसी विचार में पडा हुआ था कि मुझे बबई सेंट्रल स्टेशन पर उतारकर एक यूरोपियन सार्जेंट के चार्ज में सौपा गया। मेरे साथ उसका वर्ताव बडा विवेकपूर्ण था। उसने वहा चाय-पान की व्यवस्था कर दी और वहा से एक बडी लारी मे मैं और वह सार्जेंट, दोनो, कोकण जानेवाले जहाज के गोदाम पर रवाना हुए। तब जाकर मैं समझ पाया कि मुझे शायद रत्नागिरि जेल ले जाया जा रहा है।

जहाज पर एक छोटी सी, लेकिन अर्थपूर्ण घटना घटी। सार्जेंट ने मुझे दूसरे दर्जे में अच्छी-से-अच्छी जगह बैठाने का विचार किया। किंतु मुझे वहा बहुत देर से ले जाया गया था। इसलिए सब जगह भर गई थी और मेरे लिए जगह की व्यवस्था करने की स्थिति पैदा हो गई थी। मैंने सदा की तरह अपनी खादी की धोती, कुरता और सफेद टोपी, बस यही पहन रखा था। जेल-परिवर्तन की सूचना न होने के कारण मैं घर से भी कुछ कपडे नही मॅगा सका था। मैं सार्जेंट के पास ही खडा था। सार्जेंट ने एक गोआनी ईसाई मुसाफिर को हुक्म दिया—"यहा रखा हुआ बिस्तर उठाओ और जगह खाली करो।" मुसाफिर रुष्ट हुआ और उसने सार्जेंट के साथ झगड़ा शुरू किया। उसने कहा—"मैने जल्दी आकर जगह रोकी है, तुम मुझे यहा से किस तरह उठा सकते हो ?" सार्जेंट तिरस्कारपूर्वक हस रहा था, इसलिए मुसाफिर ने मेरी ओर मुह करके कहा—"साहब, आप ही न्याय कीजिये। यूरोप में जो पाच बरसो तक महायुद्ध[1] हुआ, वह क्या वह इसी तरह की निर-कुशता के पोषण के लिए हुआ था ? क्या न्याय जैसी कोई वस्तु ही नही है ? यह पुलिस अधिकारी जो नादिरशाही चलाना चाहता है, वह क्या

---

१ लेखक का आशय प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) से है।

उचित है ?" मैंने सहानुभूतिपूर्वक उत्तर दिया—"भाई, इसमे मेरा कुछ भी वस नही है । न्याय तोलने का मुझे कोई अधिकार ही नही है, कारण मै एक कैदी के रूप मे इस सार्जेंट के अधीन हू । मुझे वडा दुख है कि यह मेरे लिए जगह खाली करने के लिए ही हुक्म दे रहा है ।" मेरी वात सुनकर वह मुसाफिर स्तब्ध रह गया और वोला—"क्यो साहव, आप कैदी हैं ? आप काग्रेसवाले हैं, इसलिए मैं आपको प्रसन्नता से जगह खाली कर देता हू । यह ईश्वर का उपकार है कि आपकी सेवा करने का मुझे अवसर मिला, अन्यथा इस सार्जेंट की वात तो मैं हरगिज न मानता ।" यह कहते हुए उसने तुरत अपना विस्तर समेटकर मेरे लिए जगह कर दी। काग्रेसजनो के प्रति सर्व-सामान्य लोगो का आदर और प्रेम देखकर मैं गद्गद हो गया ।

शाम को हम रत्नागिरि पहुचे । कोकण में मुझे जाननेवाले वहुत से लोग थे, इसलिए जहाज पर मेरे होने का हाल मालूम होते ही कई भाई मेरा अभिवादन और साथ ही सहायता करने के लिए आये । रत्नागिरि के वदरगाह पर जहाज-गोदाम नही है । जहाज लगभग एक मील दूर नदी मे ही रहता है और वहा से मुसाफिरो को डोंगी में वदर पर ले जाया जाता है । जहाज के ठहरने पर रत्नागिरि के मेरे अपने परिचित वधु विशेप रूप से जहाज पर आये थे । दिन मे उन्हे सूचना मिल गई थी कि मुझे वहा ले जाया जा रहा है । ये लोग मेरा विस्तर और वैग आदि लेकर मुझे पडाव पर ले गये । किंतु मेरी चौकसी के लिए आनेवाले वेचारे पुलिस इस्पेक्टर और सिपाहियो को किसीने कुछ पूछा तक नही । वे वेचारे मराठी भी नही जानते थे । यह स्थिति देखकर मैंने मित्रो से कहा—"मेरे रक्षक के रूप मे आये हुए इस्पेक्टर और सिपाहियो को भी मेरे पास ले आयें । ये वेचारे यहा की भापा नही जानते, इन्हे कोई असुविधा नही होने देनी चाहिए ।" इस प्रकार हम साथ ही रत्नागिरि के किनारे उतरे ।

रत्नागिरि जिले के साथ मेरा अत्यत घनिष्ट परिचय था । केवल इस कारण नही कि हमारा कुटुव लगभग १६० वर्ष से अधिक रत्नागिरि जिले मे ही रहा था, प्रत्युत मेरे पिता अपनी मुसिफगिरी के कारण कोकण मे थे, तव रत्नागिरि जिले के देवरुख और राजापुर गाव मे मेरी मराठी की प्राथमिक और अग्रेजी की पाचवी कक्षा तक शिक्षा हुई थी, इसलिए इस जिले

के अनेक स्थानो मे मेरे परिचितो मे मेरे अनेक लगोटिया मित्र थे। इसके सिवा अपने कुटुब का इतिहास लिखने और प्रकाशित करने के सबध मे आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के लिए और साथ ही मावलक में हमारे कुटुब का मदिर होने के कारण १९२५ में उसके दर्शन के लिए मेरा दो-तीन बार वहा जाना हुआ था। इस कारण वहा के बधुओ के साथ पुराना परिचय ताजा हुआ था और कई एक नये परिचय भी हुए थे। इस तरह एक प्रकार से रत्नागिरि में रहना मेरे लिए एकदम अपरिचित स्थान में रहने जैसा नही था। यद्यपि मुझे ऐसा मालूम होता है कि सरकार का मुझे वहा रखने का निश्चय करने का यही मतलब था कि यह स्थान गुजरात से बहुत दूर होने के कारण गुजरात के कार्यकर्ता और मित्र लोग मेरे साथ सुगमता से सपर्क न रख सकेंगे। किंतु मेरे लिए तो विश्राति, जलवायु और मित्रो के सपर्क की दृष्टि से भी यह अनुकूल ही रहा। यह कहना चाहिए कि ईश्वर जो कुछ करता है वह भले के लिए ही करता है।

: २० :

रत्नागिरि जेल में पंद्रह घंटे

मुझे रत्नागिरि जेल मे पहुचते-पहुचते रात के लगभग साढे आठ बज गये थे। वहा मेरे लिए सब प्रकार की व्यवस्था थी। किंतु इस जेल मे मुझे बहुत कम समय रहता पडेगा, इस बात का उस समय मुझे जरा भी खयाल नही था। मुझे यह पता था कि इस जेल मे बहुत से काग्रेसी कार्यकर्ता हैं। इसलिए इन सब के साथ जान-पहचान होगी और अपना समय बहुत-कुछ जानने और सीखने मे अच्छी तरह व्यतीत होगा, यह विचार करते-करते रात को मैं सो गया। सुबह सारी जेल मे वहा रहनेवाले भाइयो ने सुस्वर सुदर प्रभातिया गाना शुरू किया, वह सुनकर मैं अद्‌भुत आनद अनुभव करता रहा। प्रात कोठरी का ताला खुलते ही मैंने यहा कौन-कौन हैं, इसकी पूछताछ शुरू की। वहा की शौच की व्यवस्था से मुझे जरा बेचैनी हुई। टट्टिया तो साफ थी, किंतु वे बिना दरवाजे की और एक-दूसरे से सटी हुई थी, जिनसे खुले मे बैठने का आदत न होने के कारण मुझे बहुत

परेशानी हुई।

वहा लगभग ८० काग्रेसजन थे। उनमें परिचित व्यक्ति श्री अप्पासाहब पटवर्धन थे। लोग उन्हें 'कोकण के गाधी' कहते हैं। वह बडे तत्वनिष्ठ और तपस्वी व्यक्ति हैं। उनसे प्रात काल मिलना जरा कठिन था, क्योकि जेल में टट्टिया साफ करने का ही काम उन्होने अपने जिम्मे ले रखा था। वहा के दूसरे परिचित कैदी सेनापति बापट थे। उन्हे सात वर्ष की सजा थी और उन्होने अपने लिए एकातवास की कोठरी ले ली थी। वह महाराष्ट्र के एक सुप्रसिद्ध नेता, सिद्धहस्त लेखक और कवि थे। दूसरे अनेक कर्नाटकवाले थे। राजनैतिक बदियो में गुजरात का कोई नही था, किंतु साधारण कैदियो में लंबी सजावाले कई कैदी थे, उनमे से मोती जेणा[1] नाम का एक कैदी बाद में १९४२-४४ में साबरमती जेल में सेवक के रूप में मेरे पास रहा था। मेरे वहा जाने की बात गुजराती कैदियो को मालूम होते ही उन सबको स्वभावत- ही प्रसन्नता हुई और वे मुझसे मिलने और मेरा अभिवादन करने के लिए मेरे पास आये। उनके मुख मे एक ही बात थी—'आज अपना एक गुजराती सत्याग्रही (राजनैतिक) कैदी आया है।' मैंने उनके साथ गुजराती में बातचीत की। इससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। मनुष्य की भावना पर भाषा का कितना प्रभाव होता है, यह बात इसका एक उदाहरण थी।

मैंने सेनापति बापट को पहले कभी देखा नही था, किंतु उनके विषय में सुन बहुत-कुछ रखा था। उनकी कुछ कविताएं भी मैंने पढी थीं। इसलिए मेरे मन में उनके प्रति बडा आदर था। मुझे जो ऐसे एक महान व्यक्ति से मिलने का अवसर मिला था, उसका लाभ उठाने के लिए मैं आतुर था और इसलिए वहां के वार्डरो और सिपाहियो से व्यवस्था करके मैं उनसे मिलने के लिए उनकी कोठरी में गया।

रत्नागिरि जेल मे सुपरिंटेंडेंट के रूप में वहा के सिविल सर्जन काम करते थे। उनके दस बजे दफ्तर में आते ही मुझे जेल के दफ्तर में ले जाया

१—मोती जेणा के विवरण के लिए स्व० मेघाणी कृत 'माणसाई नादीवा' और लेखक का 'मानवता के झरने' देखिये।

गया। उन्होने वडे स्नेह भाव से मेरे स्वास्थ्य का हाल-चाल पूछा और मुझसे प्रश्न किया—"क्या रत्नागिरि मे रहने की आपकी कोई सुविधा है ?" प्रश्न सुनकर मैं असमजस मे पड गया। इस पर से उन्होने मुझे सरकारी हुक्म वताया। उसमे निम्नलिखित शर्तें थी

(१) मैं रत्नागिरि जिले की सीमा से वाहर नही जाऊगा,

(२) मैं सविनय आज्ञा भग-आदोलन मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी रूप में भाग न लूगा।

इसमे ऐसी कोई शर्त नही थी कि मुझे अमुक दिन पुलिस मे हाजरी देनी चाहिए। इसीलिए मेरी परेशानी वढ गई। यह स्पष्ट था कि मेरे स्वास्थ्य की हालत देखकर सरकार भी मुझे जेल में रखना आवश्यक नही समझती थी। मेरे सामने दो प्रश्न मुख्य थे—सरकारी आज्ञा भग की जाय या नही, और की जाय तो कव ? और दूसरे, बीच की अवधि में कहा रहा जाय ? रत्नागिरि शहर मे मेरा परिचय प्राय नही-सा ही था। खास परिचयवाले वहुत ही गरीव स्थिति के थे। उनके यहा जाने से उनको पुलिस की परेशानी होने का डर था। इसलिए मैंने सुपरिंटेंडेंट से कहा—"रत्नागिरि मे मेरा ऐसा कोई परिचित नही जिसके यहा जाकर मै दूसरे घर की व्यवस्था होने तक ठहर सकू। यदि आप मुझे यहा कोई होटल या सराय वतायें तो मैं वहा कुछ समय रह जाऊगा अन्यथा आपकी देख-रेख में यह सरकारी सराय क्या वुरी है ?" सुपरिंटेंडेंटसाहव हसे और कहने लगे—"मैं आपको जेल में कैसे रख सकता हू ? आपको तो छोड देने का हुक्म है। यहा कोई ऐसा होटल या सराय नही कि जहा आप रह सके। यहा श्री वावासाहव नानल नाम के एक प्रमुख वकील एव अत्यत सज्जन पुरुष हैं। सार्वजनिक कार्यो मे वह अग्र भाग लेते हैं। उन्हे यदि आप पहचानते हो तो मैं आपको उनके यहा पहुचा दू।" उत्तर मे मैंने कहा—"श्री वावासाहव को मैं नाम से तो जानता हू, किंतु कभी मिलना नही हुआ, इसलिए मेरी उनके यहा जाने की इच्छा नही है।" सुपरिंटेंडेंटसाहव ने इसका कारण पूछा तो मैंने वताया—"मैं एक राजनैतिक वदी हू, इसलिए मेरे प्रति सदेह के कारण जिसके यहा मैं रहूगा उसे खुफिया पुलिस की परेशानी भुगतनी होगी और यह मैं जरा भी पसद नही करता।" मेरे कथन से सुपरिंटेंडेंटसाहव का

समाधान नही हुआ और उन्होंने कहा—"बाबासाहब बडे सज्जन और साहसी व्यक्ति हैं, अत आपको इस तरह की परेशानी की जरा भी चिंता नही करनी चाहिए। अपने स्वास्थ्य को देखते हुए आपको और कोई विचार न करके बाबासाहब के ही यहा जाकर रहना चाहिए।" इतना कहकर उन्होंने स्वय बाबासाहब के नाम चिट्ठी लिखी और उसे पहुचाने के लिए अपनी मोटर भेजी। कुछ ही समय मे बाबासाहब के बच्चे अपनी मोटर लेकर मुझे अपने घर ले जाने के लिए आ गये और इस प्रकार मै बाबासाहब का मेहमान बना। महीना भर मैं वहा रहा। इसी बीच मेरे रहने के लिए दूसरी व्यवस्था हो गई और मेरी माताजी तथा कुटुबीजन भी मेरे साथ रहने के लिए रत्नागिरि आ गये।

: २१ :

नजरबंदी और मेरी दुविधा

मैं २० मार्च को रत्नागिरि जेल से मुक्त होकर उसी जिले में नजरबद हुआ था। उस समय मेरी तबीयत ठीक न थी। मद ज्वर और दुर्बलता के कारण मैंने यह तो निश्चय कर ही लिया था कि सहज प्राप्त इस विश्राम का लाभ लेकर स्वास्थ्य को सुधारना मेरा पहला काम है, इसलिए मुझे सरकारी आज्ञा की अवहेलना करके जेल जाने की कोई जल्दी नही करनी चाहिए। फिर अहमदाबाद से माताजी आदि कुटुबीजन आनेवाले थे। इसलिए मैंने उनके आने के बाद उनके साथ सलाह करके अत मे क्या करना चाहिए, इसका निर्णय करने का निश्चय किया।

इस प्रकार आज्ञा-भग का प्रश्न उस समय तो टल गया। इसी बीच अप्रैल १९३३ मे गाधीजी ने सामूहिक सत्याग्रह बद करके स्वराज्य के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह जारी रखने का निर्णय किया। बहुत करके पूना मे यह निर्णय हुआ था। इसलिए मेरे सामने आज्ञा-भग का प्रश्न नये रूप में उपस्थित हुआ और उस पर पुनर्विचार की आवश्यकता अनुभव हुई।

स्वराज्य-प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह का अर्थ मैं यह मानता था कि स्वराज्य-प्राप्ति तक, अर्थात अनिश्चित अवधि के लिए और बहुत करके

वर्षों तक, यह सत्याग्रह जारी रखना होगा। जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह सत्याग्रह था, उसकी प्राप्ति के बिना अधबीच मे ही सत्याग्रह छोडा नही जा सकता और इस प्रकार वर्षों तक—अनिश्चित अवधि के लिए—जेल मे रहने के लिए मैं तैयार नही था। वर्ष-दो-वर्ष का समय जेल मे काटना एक बात है और वर्षों तक जेल में ही रहना यह सर्वथा दूसरी। हा, इसमे यह बहुत सभव था कि ऐसी मुश्किल स्थिति वर्षों तक न चले और वर्ष-दो-वर्ष मे कुछ-न-कुछ मार्ग निकल ही आये। इतने पर भी मुझे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने की आशा से, कि किसी भी आकस्मिक कारण से सत्याग्रह जरूरी न रहेगा, व्यक्तिगत सत्याग्रह का निश्चय करना बौद्धिक अप्रामाणिकता प्रतीत होती थी। सत्याग्रह का अर्थ ही यह है कि ध्येय-प्राप्ति तक उसे चलाने के लिए हम तैयार रहे। इसलिए मेरे लिए अब सत्याग्रह का प्रश्न रह ही नही गया था। किंतु मुझे आज्ञा का पालन किस हद तक और कब तक करना चाहिए, यह एक व्यावहारिक प्रश्न मेरे सामने था।

अहमदाबाद के मेरे अनेक मित्रो ने मुझे दो प्रकार की सलाह देना और आग्रह करना जारी रखा। एक मत यह था कि मुझे आज्ञा-भग कर जेल नही जाना चाहिए। ऐसी सलाह देनेवालो में मेरे प्रति आत्मीय भाव और प्रेम था। दूसरा मत काग्रेसी मित्रो का था कि मुझे आज्ञा भग करनी चाहिए। मै एक प्रतिष्ठित और प्रमुख कार्यकर्त्ता गिना जाता था, अत आज्ञा के वशीभूत होकर जेल के बाहर रहने से उनकी मान्यता के अनुसार काग्रेस की प्रतिष्ठा को हानि पहुचती थी। उनके विचार की यह एक दिशा थी। उनके विचार का दूसरा पहलू यह था कि दादा अनिश्चित अवधि तक रत्नागिरि मे कब तक पड़े रहे? सरकार तो उन्हे लबी अवधि तक वहा रखे रहेगी, इसलिए इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए दादा को वर्ष अथवा छ महीने की सजा प्राप्त कर जेल चला जाना चाहिए और इस प्रकार रत्नागिरि के निर्वासन के समय को कम करना चाहिए।

अपना स्वास्थ्य सुधारने तक मुझे आज्ञा भग नही करनी चाहिए, इस हद तक तो आज्ञा भग न चाहनेवाले मित्रो की सलाह तो मुझे मान्य थी। किंतु उसमे यह प्रश्न तो शेष रह ही जाता कि स्वास्थ्य के सुधर जाने के बाद मुझे क्या करना चाहिए? काग्रेसी मित्रो की सलाह को मैं मान्य कर

नही सकता था। मुख्य प्रश्न तो मेरे निजी विचारो और अपनी शक्ति का था। सत्याग्रह मे विश्वास रखते हुए भी अनिश्चित अवधि तक उसमे पडे रहने की तात्विक दृष्टि से मेरी तैयारी नही थी। दूसरी ओर सरकार की ओर से किये गये निर्वासन से छुटकारा पा जाने के विचार से आज्ञा भग करके जेल जाने को मैं सत्याग्रह मान नही सकता था। ऐसा आचरण तो सर्वथा छलपूर्ण एव अप्रामाणिक ही समझा जाता है। ऐसे आचरण से सत्याग्रह का नाम कलकित होता है। शुद्ध वृत्ति और स्वराज्य-प्राप्ति के उद्देश्य से सत्याग्रह किये जाने को ही सत्याग्रह कहना उचित है, और सब तो लोगो की दृष्टि में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए रचा गया प्रपच है, ऐसी मेरी दृढ मान्यता थी और इसीलिए तत्काल आज्ञा-भग करने की सलाह मेरे लिए निरुपयोगी ही थी।

तब मेरे सामने प्रश्न यह था कि स्वास्थ्य सुधरने के बाद क्या करना चाहिए? बहुत विचार करने के बाद मैं इस निश्चय पर पहुचा कि कम-से-कम एक वर्ष तक तो मुझे निर्वासन मे ही रहना चाहिए। कानून के अनुसार सरकार प्रति छ मास बाद अपने आदेशो पर पुर्नविचार करने के लिए बाध्य थी और इस प्रकार एक वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद यदि सरकार अपने आदेश में कोई परिवर्तन न करे और मेरे निर्वासन को जारी रखे, तो मुझे सरकार को नोटिस देना चाहिए कि आपकी निर्वासन-आज्ञा को मैं भग करने-वाला हू। किंतु यह आज्ञा-भग स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सत्याग्रह के रूप मे न होकर सरकार के अन्यायी और निरकुश व्यवहार के विरुद्ध होगा। सरकार अपने बनाये हुए कानूनो का अन्याय और वैरवृत्ति के साथ प्रयोग करती है, उसके प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करने, अर्थात इस एक ही और छोटे से मुद्दे पर सीमित स्वरूप का मेरा यह आज्ञा-भग होनेवाला था। इस प्रकार का निर्णय करने से मुझे एक प्रकार की मानसिक शाति प्राप्त हुई। इस निर्णय में किसी प्रकार का दभ एव प्रतिष्ठा के लिए दिखावा अथवा मिथ्यापन न था, प्रत्युत दुर्बलता की स्वीकृति और साथ-ही-साथ अन्याय का विरोध भी समाविष्ट था। इसलिए मेरे मन को इससे शाति प्राप्त हुई थी।

इस बीच हुई एक छोटी सी, किंतु महत्वपूर्ण, घटना सुनिये। मेरे स्नेही

और मित्र स्वर्गीय दीवान बहादुर हरिलाल देसाई ने, जो कुछ ही समय पहले तक (जनवरी १९२७ से अक्तूबर १९३० तक) बबई सरकार के एक मत्री थे, मुझे एक पोस्ट कार्ड लिखकर अपने कुशल समाचार के साथ-साथ बताया कि "आगामी सप्ताह में पूना जानेवाला हू, उस समय पुराने परिचय को ताजा करने का विचार है।" इसका यह स्पष्ट अर्थ प्रतीत हुआ कि वह पूना मे मेरे हुक्म के सबध में, उच्च सरकारी हल्को मे कुछ-न-कुछ प्रयत्न करना चाहते हैं। मैंने तुरत ही उन्हे लिखा—"छोटे मुह बडी बात करने का जो साहस कर रहा हू, उसके लिए क्षमा कीजिये, किंतु मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आपको इस पुराने परिचय को ताजा करने के पचडे मे नही पडना चाहिए। एक तो इसमें निराशा ही आपके पल्ले पडनेवाली है, दूसरे आप जो कुछ करेंगे, लोग और मित्र उसका उल्टा ही अर्थ लगायेंगे कि दादा ने ही आपके द्वारा यह प्रयत्न करवाया है। आपकी शुभिच्छा होते हुए भी आपके प्रयत्नो का परिणाम मेरी झूठी बदनामी ही होगा। इसलिए मेरी तो आपसे यही साग्रह प्रार्थना है कि आप पूना में इस बात की चर्चा न करें।" इतने पर भी दीवान बहादुर से रहा नही गया। पूना मे वह अपने पुराने परिचय के कारण गृह-सदस्य से मिले और वहा उन्होने बात भी छेडी। किंतु गृह-सदस्य ने उन्हे खरा जवाब दे दिया। दीवान बहादुर उनका उत्तर सुनकर लाल-पीले हो उठे। जैसी मैंने कल्पना की थी वही हुआ। मेरे पास दीवान बहादुर का पत्र आया—"सरकार की बुद्धि को काठ मार गया है और इसलिए उसे सब उल्टा-ही-उल्टा सूझता है।" लेकिन मुझे इसमे कुछ भी आश्चर्य प्रतीत न हुआ। किंतु मन में यह खटक तो रही ही कि मेरे मना करने पर भी दीवान बहादुर ने स्वेच्छा से जो कुछ किया, लोग उसका क्या अर्थ लगायेंगे।

इस स्थिति मे मेरी दुविधा क्या थी, मैं किस प्रकार के विचारो के भवर मे पडा हुआ हू, और इस विषय में कुछ मित्रो की ओर से मुझे दी जानेवाली उल्टी-सुल्टी सलाहो की स्वय जानकारी होने से गाधीजी ने मेरी चिंता दूर करने और शांति देने के लिए ३० जुलाई १९३३ को एक पोस्ट कार्ड लिखकर मेरा मार्ग-दर्शन किया। गाधीजी ने लिखा था

"तुम्हारा स्तवन तो नित्य करता हू, किंतु पत्र किस समय लिखू? आज तो इतना लिखने का निश्चय कर ही लिया। तुम्हारी कुशलता के

समाचार मिलते रहते हैं। तुम्हारा निर्णय मुझे पसन्द है। इनका [illegible] हम ले नहीं सकते थे। बाकी दुनिया तो हमारी परवाह किये बिना चलती ही रहती है। इसलिए सहज प्राप्त अवसर का उपयोग शरीर को बनाने में करना।"

इस छोटे से पत्र ने मुझे बहुत हिम्मत दी। मैंने अपने मन में जो निर्णय लिया था वह उचित ही था, इसका मुझे विश्वास हुआ। गांधीजी १-८-२३ को दो महीने अहमदाबाद में सेठ रणछोड़भाई के बंगले से सत्याग्रह करनेवाले थे। उससे एक दिन पहले उन्होंने यह कार्ड मुझे लिखा था।

गांधीजी ने कामों में अत्यन्त घिरे रहने पर भी समय निकालकर यह छोटा सा पत्र मुझे लिखा, इतने से ही मुझे अपने प्रति गांधीजी की आत्मिक भावना का विशद दर्शन हुआ। साथ ही पत्र के 'स्वस्थ' शब्द से मेरे प्रति उनकी शुभ भावना का परिचय मिला, और इसलिए गौरव के साथ-ही-साथ मुझे अपने उत्तरदायित्व का भी ज्ञान हुआ। 'दुनिया तो हमारी परवाह किये बिना चलती ही रहेगी', उनके इन अमूल्य शब्दों ने मुझे अपने मार्ग [illegible] पर चलने का [illegible] भी दिया।

बडा आनद होता। उससे बहुत-कुछ सीखने को भी मिलता। अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी का भी काफी काम मेरी सलाह के लिए आता, उसके लिए भी मै विशेष समय दे सकता था। समय-समय पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति मुझसे मिलने आते और इससे अहमदाबाद और गुजरात के सार्वजनिक जीवन के साथ मेरा सपर्क कायम रहा। किंतु ये सब बातें तो हुई सार्ववजनिक जीवन के सबध मे। मुझे रत्नागिरि मे जो कुछ विशेष लाभ हुआ, वह कौटुबिक और व्यक्तिगत जीवन सबधी था।

अपनी पत्नी और बालको के साथ जितना समय बिताने और विचारो का आदान-प्रदान करने की मेरी इच्छा थी, वह कुछ अशो मे, सामाजिक और परिणामत कौटुबिक वातावरण के कारण, अहमदाबाद मे मैं पूरी कर नही सकता था। वर्ष मे गरमी के दिनो मे तीन-चार सप्ताह पूना, सतारा, नासिक आदि स्थानो मे रहने जाने के समय सब कुटुबियो के साथ पूरा समय इकट्ठे रहने का अवसर मिलता। लेकिन अहमदाबाद में तो सुबह-शाम को भोजन करते समय अथवा कभी-कभी दूसरे किसी समय जो जरा सा अवकाश मिल पाता, वही मैं कुटुब के साथ बिता सकता था। अपने कुटुबी-जनो के साथ मैं अन्याय कर रहा हू, इस बात का ज्ञान मुझे था और इसलिए यह बात मुझे खलती भी थी। इसीलिए मैंने गुजरात क्लब मे भी जाना बद कर दिया था। तिस पर भी मैं कुटुबीजनो के साथ जितना चाहिए था, उतना समय निकाल नही सकता था। लोग मेरी अपनी वकालत की आय की प्रशसा करके यह मानते थे कि मै बहुत बडा त्याग कर रहा हू, किंतु मेरे अपने विचार मे तो सबसे बडा त्याग अथवा अन्याय तो कुटुबीजनो के प्रति अपने कर्तव्यो का था। कारण, मेरी यह दृढ मान्यता है कि सार्वजनिक जीवन एव राष्ट्र के कार्य मे जिस प्रकार के गुणो की अपेक्षा रखी जाती है, उन गुणो का विकास एव पोषण कौटुबिक-जीवन मे ही होता है। परस्पर प्रेम, आपस में सुख देने के लिए अपने सुख का बलिदान करने की वृत्ति, शुद्ध हृदयता, सचाई, सहयोग एव सयम आदि गुणो का विकास एव परिपोषण वास्तविक कौटुविक जीवन मे ही होता है, और इसीलिए मेरा रत्नागिरि का निर्वासन कौटुबिक दृष्टि से वरदान सिद्ध हुआ।

इन सोलह महीनो मे मेरी माताजी और बच्चे दो बार में लगभग चार

महीने वहा रहने आये थे और मेरी पत्नी तथा सबसे छोटा बच्चा (नरहरि उर्फ नाना जो मार्च १९३३ मे लगभग डेढ वर्ष का था) और मेरा दूसरा लडका (विष्णु उर्फ बापू) ये मेरे साथ पूरे समय रहे थे। इसलिए सुबह-शाम घूमने जाते समय मैं अपनी पत्नी के साथ सार्वजनिक एव निजी प्रश्नो पर बातचीत एव विचार-विनिमय कर पाता था और इस प्रकार हम दोनो का जीवनपथ और जीवनोद्देश्य एक ही रास्ते चले, यह साधने का अवसर विवाह के बारह वर्ष बाद रत्नागिरि के निर्वासन के कारण प्राप्त हुआ।

किंतु इस जीवन के लाभ यही समाप्त नही हो जाते। मुझे कई बार यह अनुभव होता था कि केवल शरीर श्रम की महत्ता की दृष्टि से ही नही, वरन शिक्षण की दृष्टि से भी, प्रत्येक व्यक्ति को भोजन बनाना आना चाहिए। मैं अहमदाबाद में कई बार अपने कुटुबियो से कहा करता था और एक बार तो हमारे घर पर विद्याध्ययन के लिए रहनेवाले कालेज के दो नवयुवक छात्रो के साथ निश्चय भी कर लिया था कि अगली छुट्टी मे हम कम-से-कम दो दिन के लिए तो घर के सब काम स्वय ही करेंगे। मेरे यहा नौकरो मे एक रसोइया, दूसरे अन्य कामो के लिए एक ब्राह्मण और झाडू आदि लगाने के लिए एक आदमी और, इस प्रकार तीन व्यक्ति, और कुटुब के छोटे-बडे आठ व्यक्ति और दो उपर्युक्त कालेज छात्र इस प्रकार कुल दस आदमियो के काम के लिए तीन चाकर थे। हम स्वत कुछ भी परिश्रम न करें, यह स्थिति मुझे रुचिकर नही लगती थी। किंतु कुटुबीजनो की और सामाजिक स्थिति ऐसी नही थी कि मैं इसका कोई तात्कालिक उपाय कर सकता और इसीलिए कम-से-कम दो दिन के लिए ही सही, घर का सभी काम सभालने का निश्चय किया था। वह इस हद तक, कि हम तीनो ही व्यक्ति भोजन बनाने, घर झाडने-बुहारने, लालटेन आदि साफ करके दिया-बत्ती करने, बरतन माजने और बिस्तर बिछाने आदि का काम करेंगे और कुटुबीजन तथा नौकर अपने घर आये हुए महमान हैं, यह मानकर चलेंगे। यह विचार मन में उठते, इन पर चर्चा होती, अमल में लाने की एक के बाद एक योजना बनती, किंतु अमल इन पर कभी नही हो सका था। रत्नागिरि में मुझे यह अवसर मिला और इसलिए मैं मानता हू कि रत्नागिरि के निर्वासन ने मेरे निजी और कौटुबिक जीवन में एक बहुमूल्य योग दिया है।

रत्नागिरि मे लाल धूल बहुत है। अत मैं सुबह-शाम घूमने जाते समय खाकी चड्डी और कुरता पहनकर जाता। जाते समय एक झोला भी साथ ले जाता। वापसी के समय उसमें गाव से साग-सब्जी लेता आता। रोज की डाक डालने के लिए डाकखाने जाता। इस प्रकार घूमना और काम दोनो अनायास ही हो जाते थे। मुझे ऐसा करते देखकर वहा के लोगो को बडा आश्चर्य होता। कइयो ने मुझसे पूछा भी—"यह क्या, आपके यहा नौकर हैं, तब भी आप स्वय क्यो साग-सब्जी लेने जाते हैं ? और डाक डालने के लिए स्वय ही डाकघर क्यो जाते हैं ? अहमदाबाद के एक प्रसिद्ध वकील और म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष होते हुए भी ऐसे परिश्रम के काम आप स्वय करते हैं, यह क्या आपकी प्रतिष्ठा के अनुकूल है ?" इनकी प्रतिष्ठा की कल्पना ही कुछ और थी। और उन्हे इस बात का क्या पता था कि रत्नागिरि के अपने घर में मैं क्या-क्या करता था ! भोजन बनाने के लिए वही का एक ब्राह्मण रखा था, किंतु बीच मे कुछ समय ऐसा भी आया कि कोई रसोइया मिल नही सका था। वास्तव मे इसकी जरूरत भी न थी। किंतु पत्नी को घर के काम-काज में ही घेरे रखने के बजाय उसे मेरे साथ घूमने-फिरने का समय मिल सके और जितना सभव हो सके उतना समय हम दोनो एक साथ काट सकें, केवल इसी विचार से रसोइया रखा था। जब रसोइया न होता तब पत्नी ही भोजन बनाती थी। इस बीच दो या तीन बार इनके मासिक धर्म के दिनो में भोजन बनाने और उसी प्रकार घर के और सभी काम मैं ही करता था। मेरे एक सबधी और पडोस में रहनेवाले मित्र ने कहा—"दादा, मेरी पत्नी चार दिन आपके यहा आकर सब काम कर जायगी, आप किसलिए ऐसे कामो मे समय खराब करते हैं ?" मेरा उत्तर इतना ही था—"मुझे यह अमूल्य अवसर मिला है, मैं उसे गवाना नही चाहता।" मेरे व्यवहार का तत्वज्ञान वह बाद में ही समझ सके। वहा घर मे पानी भरने का भी एक जबरदस्त काम था। वहा के कुए बहुत गहरे थे। उनमें से पानी खीचने का काम कई बार मैं करता था, और रसोइये के न होने की हालत मे तो वह काम अकेले मुझे ही करना पडता था। कई बार कपडे धोने का काम भी मैंने किया था। आरभ मे रत्नागिरि के लोग मुझे सनकी मानकर मेरी ओर हसी की दृष्टि से देखते थे। किंतु बाद मे उनकी वह

दृष्टि बदल गई। ऐसा लगता था कि उनको गाधीजी के शरीर-श्रम सबधी तत्वज्ञान का कुछ बोध हो गया हो।

: २३ :

रत्नागिरि की कुछ और स्मरणीय बातें

रत्नागिरि के इस निवास के समय छोटे-बडे अनेक स्मरणीय प्रसग हुए। म्युनिसिपैलिटी के अनेक कामो—विशेषकर सरकार के साथ के झगडे के, तथा ऐसे ही दूसरे कामो के सबध में किये जानेवाले पत्र-व्यवहार के मस्विदे तैयार करने—के लिए यहा उपयुक्त अवसर मिला। इसके अलावा अहमदाबाद की अदालत ने कई महत्व के कामो मे मुझे पच चुना था, वे काम भी मैं यही हाथ मे ले सका था और इसके लिए स्व० श्री कालीदास जवेरी, श्री त्रिकमलाल उगरचद और श्री तुलसीदास परीख जैसे वकील मित्र भी आये थे। दूसरे मित्रो में श्री कस्तूरभाई लालभाई, सेठ रणछोडभाई अमृतलाल, श्री चैतन्यप्रसाद दीवान, श्री जहागीरराव, श्री बाबूराव मेहता तथा श्री मणिलाल तेली आदि अनेक मित्र मिलने के लिए तथा और कई बार काम-काज के सबध में भी आये थे। इस प्रकार यह समय कुल मिलाकर विश्राम और काम दोनो ही दृष्टि से ठीक तरीके से ही बीता था।

इसी अवधि मे पूना मे श्री देवदास गाधी का १६ जून १९३३ को विवाह होने का समाचार मिला। मैं उसमें सम्मिलित तो हो ही नही सकता था, इसलिए शुभेच्छासूचक पत्र और उपहारस्वरूप एक चेक भेजकर ही मैंने अपने मन का समाधान कर लिया। इस विवाह के अवसर पर उनको कई व्यक्तियो से भेंट और उपहार आये थे। विवाह के बाद गाधीजी ने सबके नामो की सूची स्वय देखकर इस बात का निर्देश किया था कि किस की ओर से आई हुई भेंट अथवा उपहार रखे जायें और शेष वापस कर दिये जाय। कई दिनो बाद श्री देवदास भाई का पत्र मिला। उसमें उन्होने लिखा था कि बहुत सी भेंटें और उपहार वापस कर दिये गये थे। एक विशिष्ट सज्जन की ओर से आया हुआ बहुमूल्य शाल भी लौटा दिया गया था। किंतु मेरा नाम आते ही गाधीजी ने कहा—"इनको तो इन्कार

किया ही कैसे जाय ? रख लो।" यह पत्र पढकर स्वभावत ही मुझे आनद और सतोष हुआ। गाधीजी मुझे कितना अधिक मानते हैं, यह बात उसका एक प्रमाण थी।

एक दिन—१० अगस्त १९३३—दोपहर के डेढ बजे के लगभग मैं रसोई और चौका-बरतन आदि के सब कामो से निवृत होकर आराम कुर्सी पर बैठा था, इतने ही मे भाई मोहनलाल कामेश्वर पड्या मेरे यहा आ धमके। बिना किसी पूर्व सूचना के अकस्मात और वह भी बरसात मे, जबकि जहाजो का आना-जाना बद था, पड्याजी को देखकर मुझे आश्चर्य और आनद हुआ। मैंने पूछा—"कहिये पड्याजी, अकस्मात कैसे और कहा से ? कोल्हापुर के रास्ते से तो आप आये नही लगते। वहा की मोटरो के आने का तो अभी समय नही हुआ।" कोल्हापुरवाली मोटरें हमारे घर के रास्ते से ही जाती थी, इसलिए मोटर कब आई और कब गई, यह हम आसानी से जान सकते थे। पड्याजी ने मेरे प्रश्न के उत्तर मे कहा—"मीरा बदर पर लद्दू जहाज से उतरा और वहा से सीधा यहा आ रहा हू। पूछ-ताछ करने पर आपका पता तो सहज ही लग गया। कल यहा की जेल से श्री रविशकर महाराज की पुत्री ललिता बहन छूटनेवाली है, उसे लिवा ले जाने के लिए मैं यहा आया हू।" उस समय यह लडकी लगभग अठारह-बीस वर्ष की होगी। युवती और अकेली होने के कारण रत्नागिरि से गुजरात तक उसे कोई लिवा ले जाय यह आवश्यक था।

पड्याजी की बात सुनकर मुझे बडा आनद हुआ, इसलिए कि पड्याजी के साथ रविशकर महाराज की पुत्री का भी हमें परिचय होगा। इसके बाद पड्याजी से मैंने कहा—"आज तो आप सच्चे अर्थों मे मेरे महमान हैं।" पड्याजी मेरे कथन का अर्थ बिल्कुल नही समझे, इसलिए कुछ और अधिक जानने की इच्छा से मेरी ओर देखने लगे। मैंने कहा—"देखिये, आप यदि अहमदाबाद मे मेरे घर आये होते, तो यद्यपि महमान मेरे कहलाते, किंतु वहा तो आपकी सारी व्यवस्था मेरे नौकरो के हाथ ही होती। स्नान के लिए पानी नौकर देता और रसोइये का बनाया हुआ भोजन आपको परोसा जाता। किंतु यहा तो मेरा ऐसा सद्भाग्य है कि कुए मे से अपने हाथो खीचा हुआ पानी अपने ही हाथो आपको दूगा। और जैसा मुझसे

बना, वैसा अपने हाथो बनाये भोजन मे से शाम के लिए रखा हुआ हिस्सा मैं आपको स्वय परोसूगा। मैं अभी ही निवटा हू। इसलिए भोजन अभी ठडा नही हुआ है। इस प्रकार का आपका आतिथ्य करने का लाभ मुझे अहमदाबाद मे कहा मिलनेवाला था।" मेरी बात सुनकर पड्याजी गद्गद हो गये। मैं भी एक प्रकार के अद्भुत आनद का अनुभव कर रहा था। मेरे जीवन मे यह एक स्मरणीय दिवस था। पड्याजी जैसे महान त्यागी, प्रखर कार्यकर्ता और पुराने सहयोगी का स्वागत करने का ऐसा अवसर कब मिलनेवाला था ? शाम को भी भोजन मैंने ही बनाया। दूसरे दिन प्रात जेल से महाराज की पुत्री (ललिता बहन) को वह ले आये, उस समय तो मेरी पत्नी भी भोजन बनाने के योग्य हो चुकी थी, इसलिए उनके लिए श्रीखड, पूरी, शाक आदि उन्होने ही बनाई थी और हमने उन दोनो अतिथियो को भाव-भीनी विदाई दी। वे कोल्हापुर के रास्ते बबई रवाना हो गये।

इसी समय (जुलाई १९३३) में गाधीजी ने अहमदाबाद से सत्याग्रह करने का विचार करके साबरमती आश्रम को त्याग देने का अपना निश्चय प्रकट किया। अखबारो में यह बात छपते ही मैंने इस सबध मे अपने विचार प्रकट करते हुए और अपना विरोध दर्शाते हुए एक पत्र बहुत करके ठक्कर बापा को अथवा किसी आश्रम-वासी भाई को लिखा था। इसमें मेरा अभिप्राय यह था कि आश्रम एक ट्रस्ट है। यह बात ठीक है कि गाधीजी की प्रेरणा से वह बना था, किंतु गाधीजी इसके ट्रस्टी नही थे। और ट्रस्टियो को भी, ट्रस्ट के उद्देश्यो के विरुद्ध जाकर ट्रस्ट की सपत्ति का अपनी इच्छानुसार उपयोग करने अथवा दे देने का अधिकार नही है। इसलिए गाधीजी का कदम अवैधानिक है। आश्रम की सपत्ति लोगो के दिये हुए दान से बनाई गई थी। यह बात ठीक है कि गाधीजी के प्रति विश्वास एव श्रद्धा के कारण ये दान मिले थे, इतने पर भी जिन उद्देश्यो के लिए उन्होने दान की अपेक्षा की थी और प्राप्त किये थे, उन उद्देश्यो को एक ओर रखकर अपने मन को उचित लगा, इसलिए उस सपत्ति को छोडकर सरकार के हाथ मे जाने देना, यह एक प्रकार का विश्वासघात था। और इसलिए गाधीजी के इस कदम मे मुझे नैतिक दोष भी प्रतीत हुआ। कानून के अनुसार तो यह स्थिति स्पष्ट ही थी कि गाधीजी इस प्रकार इस सपत्ति का त्याग नही ही कर सकते थे। और फिर

गाधीजी के स्वय ट्रस्टी न होने के कारण इस सपत्ति अथवा मिल्कियत के सबध मे कुछ करने का कानून के अनुसार उन्हे कोई अधिकार नही था। मेरा यह पत्र मिलने के पूर्व ही गाधीजी ने आश्रम का त्याग करने की घोषणा कर दी थी। लेकिन सरकार के उस पर अधिकार न करने के कारण कुछ ही समय बाद फिर यथापूर्व स्थिति पैदा हो गई और इसलिए इस विषय मे अधिक पत्र-व्यवहार करने अथवा चर्चा करने की आवश्यकता नही हुई।

रत्नागिरि मे लगभग छ मास बीतने के बाद अहमदाबाद से पचायत के लिए आये हुए वकील मडल द्वारा स्वर्गीय दीवान बहादुर हरिलालभाई का सदेश मिला—"तुम विश्राम के लिए विलायत जाने का विचार कर रहे थे, उस विषय में अब सरकार को लिखो तो तुम्हारे निर्वासन का कुछ हल निकले। तुम इस तरह रत्नागिरि मे कब तक बैठे रहोगे? सरकार तो पागल है, अत तुम्हे वर्षों तक वही बदी बनाये रखेगी। इसलिए इग्लैंड जाने का विचार अवश्य करो।" यह स्पष्ट ही है कि इसमें उन्होने इस प्रश्न पर तात्विक दृष्टि से कुछ भी विचार नही किया था। उनकी यही प्रबल इच्छा थी कि किसी भी तरह मैं अहमदाबाद पहुच जाऊ। किंतु मैं यह पहले ही बता चुका हू कि इस तरह का कोई हल या उपाय निकालना मुझे क्यो पसद नही था। इसलिए मैंने हरिलालभाई को लिखा—"आपकी सदिच्छा के लिए मैं आभारी हू। किंतु छ-आठ महीने पहले मुझे इग्लैंड जाने की जो आवश्यकता थी, वह आज नही है और इसलिए इग्लैंड जाने का बहाना करके निर्वासन की आज्ञा से पीछा छुडाना अनुचित कहा जायगा। यदि मुझसे यहा अधिक समय तक न रहा जा सके, तो अपनी यह असमर्थता सरकार को बताकर वापस (अहमदाबाद) जाने की प्रार्थना करने का सीधा मार्ग मैं पसद करूगा। भले ही इस कारण मुझे कमजोर कहा जाय, किंतु उस दशा में मैं अपने मन के साथ ही दभी न रहू, यह मेरा निश्चय है। सभव है मैं दभ से दुनिया को धोखा दे सकू, किंतु अपनी अतरात्मा को तो धोखा नही दे सकता, और इसलिए मैं आपकी सलाह पर चलने में असमर्थ हू। इसके लिए आप मुझे क्षमा करे। मैं और कमजोर न बनू इसके लिए मुझे आशीर्वाद दें।" मुझे प्रसन्नता हुई कि स्व० हरिलालभाई ने मेरी दलील स्वीकार करली और अपना आशीर्वाद-सूचक पत्र मुझे लिखा।

: २४ :

ठक्कर बापा रत्नागिरि आये

सन १९३२ के आरभ में ही आजादी की लडाई फिर आरभ हुई और नेता लोग गिरफ्तार हुए। उसके एक-दो दिन पहले काग्रेस में मेरी मार्फत गुप्त रूप से काफी रकम आई। इसके अलावा मेरे अधीन अनेक ट्रस्टो की रकम भी मेरे पास थी। इनमे एक सकट-निवारण ट्रस्ट भी, जिसके गाधी-जी, सरदार और ठक्कर बापा ट्रस्टी थे, मेरे ही अधीन था। गुजरात सभा के भी कितने ही रुपये मेरे अधिकार मे थे। अहमदाबाद जिला सकट-निवारण फड आदि की रकम भी मेरे ही अधीन थी। काग्रेस की रकम को सुरक्षित रखना, उसकी व्यवस्था करना और उसमे से आवश्यकतानुसार खर्च करना, सभी काम गुप्त रूप से करने थे, अन्यथा सरकार को उसका पता चलने पर बहुत सभव था कि वह उस रकम को जप्त कर लेती। काग्रेस के अलावा अन्य रकम की जप्ती का खतरा तो था ही। गुजरात सभा की रकम के लगभग पैतीस हजार रुपये सरकार ने जप्त कर लिये थे। अहमदा-बाद जिला सकट-निवारण फड के सबध मे, जो गुजरात सभा की तरह ही काग्रेस से सर्वथा जुदा और गैर-राजनैतिक था तथा काग्रेस के आदोलन के साथ जिसका कोई सबध नही था, मुझ पर एक नोटिस तामील कर दिया गया था। इस आशका से कि वह रुपया आदोलन की पुष्टि में खर्च करने का इरादा है, मुझसे पूछा गया था कि वह जप्त क्यो न कर लिया जाय? लेकिन इस सबध मे जब अधिकारियो के साथ चर्चा हुई, तो सरकार ने उसे जप्त करने का विचार छोड दिया। इन घटनाओ के कारण काग्रेस और सकट-निवारण फड की रकम की सुरक्षा का प्रश्न मेरे लिए चिंता का विषय बन गया था, किंतु अपने मित्र सेठ कस्तूरभाई की सहायता से मैंने यह सब रकम सुरक्षित रूप से और सुरक्षित ठिकाने रख दी। उस रकम मे से मैं गुजरात मे काग्रेस का आदोलन चलाने के लिए आवश्यक रकम खर्च कर सकता था। खर्च के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियो को भिन्न-भिन्न स्थानो पर रकम भेजना और उसका ठीक-ठीक हिसाब रखवाना—और वह भी सब गुप्त

रूप से—एक अत्यत कठिन काम था। किंतु ईश्वर की कृपा से मैं इस कसौटी पर ठीक उतरा। जून १६३४ मे छूटने के बाद अहमदाबाद पहुचकर लेन-देन सबधी सभी सूत्रो की सभाल करने पर लगभग छ लाख रुपयो के खर्च मे केवल २०) रुपयो की ही भूल निकली। यह कोई मामूली बात नही थी।

मेरे पास भिन्न-भिन्न उद्देश्यो के लिए रकमे थी। इससे भी कई समस्याए पैदा हो गई थी। काग्रेस के सामान्य कामो के खर्च के लिए रकम की जरूरत पडती। उस रकम के खर्च हो जाने के बाद यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि विशेष उद्देश्यो के लिए रखी हुई रकमें आदोलन के सामान्य काम मे खर्च करनी चाहिए या नही ? यह प्रत्यक्ष था कि कानून तथा नैतिक दृष्टि से इन रकमो का इस प्रकार से उपयोग नही किया जा सकता था। किंतु मेरे सामने प्रश्न यह था कि पैसे के अभाव मे आदोलन की समाप्ति कर देना क्या उचित होगा ? दूसरी ओर यह भय भी था कि अगर उस रकम पर सरकार की नजर पड गई तो वह मुझे दो वर्ष के लिए जेल में बद कर देगी। इस बात की तो मुझे कोई चिंता न थी, किंतु रकम जप्त कर लेने पर दुहरी हानि होती—आदोलन दब जाता और रकम भी हाथ से निकल जाती। इसलिए दो-चार प्रमुख काग्रेसी मित्रो (श्री शकरलाल बैंकर तथा काकासाहब कालेलकर आदि) की सलाह लेकर मैंने विशेष उद्देश्योवाली रकम भी आदोलन के लिए खर्च करने और उस रकम को काग्रेस को दिये गये कर्ज के रूप में समझने का निश्चय किया। साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि गाधीजी और सरदार के छूटने के बाद काग्रेस के काम के लिए विशेष चदा जमा करके उसमें से यह विशेष रकम वापस पूरी कर दी जाय। मुझे ये सब निर्णय अकेले अपनी ही जिम्मेदारी पर करने पडे। ऐसी परिस्थितियो मे रुपये-पैसे के मामलो मे गाधीजी और सरदार मुझी पर भरोसा रखे हुए थे। इस कारण मेरी जिम्मेदारी और भी अधिक बढ गई थी।

आदोलन आरभ होने के कोई चौदह महीने बाद में गिरफ्तार हुआ। मुझे अहमदाबाद से रत्नागिरी भेजा गया। इससे रुपये-पैसे सबधी व्यवस्था बडी कठिन और पेचीदा हो गई। जिनको यह काम सौंपा गया था, वे सरल-हृदय और विश्वास-पात्र थे, किंतु रुपये-पैसे की दृष्टि से उनसे सपर्क

जोड़ना जोखिम भरा काम था। मेरा सब पत्र-व्यवहार सेंसर होता था। इसलिए जो कुछ भी करना होता, मौखिक संदेश ऊपर-ही-ऊपर पहुंचा दिये जाते। सितबर १९३२ में, जब मैं यरवदा जेल में सरदार वल्लभभाई पटेल से मिला था, तो उस समय रुपये-पैसे सबधी परिस्थिति से उन्हे परिचित करा दिया था। अत गिरफ्तारी के बाद की स्थिति के सबध में उन्हे पूरा-पूरा ध्यान था और रकम की सुरक्षितता के सबध में भी उन्हे विश्वास था।

१ अगस्त १९३३ को गाधीजी ने अहमदाबाद में सत्याग्रह किया और सरकार ने थोडे ही समय बाद उन्हे रिहा कर दिया। छोड दिये जाने के बाद गाधीजी ने निश्चय किया कि उन्हे जो एक वर्ष कैद की सजा दी गई थी, उस वर्ष में किसी राजनैतिक मामलो मे न पडकर केवल हरिजन कार्य किया जाय। उसमें उन्हें कुछ रकम की जरूरत पडती। अत. उन्होंने ठक्कर बापा को मुझसे बातचीत करने के लिए अपने ३ मार्च १९३४ के निम्न-लिखित पत्र के साथ रत्नागिरी भेजा .

"ठक्कर बापा तुम्हारे पास आ रहे हैं। सकट-निवारण का जो फड है, जिसके यह एक ट्रस्टी हैं, वह कितना है, कहा है और अब क्या हो सकता है, यह देखना है। दूसरे और खातो की रकम रखी है। उसकी विगत और खर्च का हिसाब भेजो तो मुझे कुछ सूझ पडे। तुम्हे कुछ सूचना देनी हो तो लिख भेजना।"

: २५ :

ठक्कर बापा की सावरकर से भेंट

जिस समय ठक्कर बापा मुझसे मिलने रत्नागिरि आये, उन दिनो शहर मे प्लेग फैला हुआ था। इस कारण शहर की बहुत बडी आबादी, मैं जिस पहाड़ी पर रह रहा था, वहा झोपडिया बनाकर रहने के लिए आई हुई थी। सुप्रसिद्ध देशभक्त विनायक दामोदर उर्फ तात्याराव सावरकर सरकार के एक नजरबद के रूप में रत्नागिरि मे ही, किंतु पहाडी के नीचे एक गाव मे, रहते थे। ठक्कर बापा ने उनसे मिलने की विशेप इच्छा प्रकट की।

श्री सावरकर के साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया था। उनके और मेरे राजनैतिक एव अन्य विचारो मे जमीन-आसमान का अतर था। वह राजनैतिक हिंसा मे विश्वास रखते थे। मेरी शुद्ध अहिंसक के रूप मे आचरण करने की तो शक्ति नही थी, किंतु मेरा यह निश्चित विश्वास था कि भारत हिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त नही कर सकता। आधुनिक युग मे हिंसा के साधन इतने अधिक बढ गये हैं कि भारत के लिए सामूहिक रूप मे उनका उपयोग अथवा व्यवस्था करना तक असभव था। साथ ही मेरी यह दृढ मान्यता थी कि अधिकारियो की वैयक्तिक हिंसा से हमारा कुछ भी हित होनेवाला नही है।

इसी प्रकार हिंदू-मुस्लिम एकता के सबध मे भी उनसे ऐसे ही मौलिक मतभेद थे। मुझे मुसलमानो के उच्छृखल व्यवहार और विचारो से विरोध होते हुए भी मेरे मन मे उनके प्रति द्वेष-भाव अथवा किसी भी व्यक्ति के केवल मुसलमान होने के ही कारण अरुचि नही थी। मेरे बहुत से मित्र और मुवक्किल मुसलमान थे, जबकि श्री सावरकर के सब मतव्य मुसलमानो के प्रति द्वेष की भित्ति पर आधारित थे। वह मुसलमानो को दबा देने के लिए विदेशी अग्रेजो के साथ सहयोग करने तक को तैयार थे। मुझे यह स्थिति दुखद प्रतीत होती। श्री सावरकर रत्नागिरि मे अस्पृश्यता-निवारण का काम अच्छी तरह कर रहे थे। उनकी प्रेरणा से पतित-पावन नाम से श्री रामचद्रजी का एक मदिर बनाया गया था। वहा अस्पृश्यो के साथ सवर्ण चाय-काफी एव नाश्ता ले सकें, इसके लिए चाय-काफी की एक छोटी सी दूकान भी वह चलाते थे। यह सब तो अच्छा था, किंतु इसके मूल मे हिंदू सस्कृति अथवा अस्पृश्यो के प्रति प्रेम की अपेक्षा मुसलमानो के प्रति विद्वेष ही अधिक था। मुझे यह बात पसद नही थी, इसलिए उनसे मिलने के अवसर आने पर भी मैं उनके साथ चर्चा या वाद-विवाद नही करता था। गाधीजी की विचारसरणी के प्रति उनके मन मे एक प्रकार की तिरस्कार की भावना भी मैं देखता था। इतना होते हुए भी सावरकर के देशप्रेम और त्याग की अवहेलना नही की जा सकती थी, और इसीलिए ठक्कर बापा को उनसे मिलने की इच्छा को मैं समझ सकता था।

शहर मे प्लेग होने के कारण श्री ठक्कर बापा को श्री सावरकर के यहा

ले जाने की अपेक्षा श्री सावरकर को ही अपने यहा बुलाकर बापा से मिला देना मैंने उचित समझा और इसलिए रत्नागिरि के दो प्रतिष्ठित सज्जनो को, जो मेरे मित्र बन गये थे, अपना सदेश श्री सावरकर तक पहुंचाने का काम सौपा। मेरी बात सुनकर वे मित्र बोले—"दादासाहब आपने अभी सावरकर को पहचाना नही मालूम होता। उनमे इतना अहकार है कि वह कभी भी ठक्कर बापा से मिलनेवाले नही हैं। यदि ठक्कर बापा की विशेष इच्छा हो, तो उन्हे स्वय ही सावरकर के यहा जाना पडेगा।" यह सुनकर मै जरा आश्चर्यचकित हुआ और मैंने उनसे कहा—"श्री सावरकर को यहा आने मे क्या आपत्ति हो सकती है ? एक तो ठक्कर बापा उनकी अपेक्षा अधिक उम्र के हैं और सार्वजनिक सेवा का कार्य कर रहे हैं। दूसरे ठक्कर बापा को प्लेगवाली आबहवा मे ले जाने की अपेक्षा श्री सावरकर स्वय यहा शुद्ध हवा में क्यो न आयें ? श्री सावरकर ने तो प्लेग का टीका लगवा लिया है, किंतु श्री ठक्कर बापा का केवल इस एक मुलाकात के लिए ही टीका लगवाना क्या ठीक होगा ?" मित्रो ने हसकर कहा—"ठीक है। हम सदेश पहुचा देंगे। आपका भी इतमीनान हो जायगा।" और सचमुच उन्होंने जो कहा था, वही हुआ और अत में हम ठक्कर बापा के साथ श्री सावरकर के यहा गये और उनसे मिल आये। हमें कोई खास काम नही था, किंतु विवेक दृष्टि से एक देशभक्त से मिलना, और उनके चलाये हुए हरिजन कार्य की जानकारी प्राप्त करना ही हमारा उद्देश्य था।

श्री ठक्कर बापा मेरे साथ दो या तीन दिन रत्नागिरि रहकर रुपये-पैसे सबधी जानकारी प्राप्त करके वापस चले गये। किंतु मेरी दी गई जानकारी एक प्रकार से बासी ही थी। मैं अपने गिरफ्तार होने तक की पूरी जानकारी दे सका, किंतु उसके बाद तेरह-चौदह महीनो में क्या परिस्थिति रही, वह मैं उन्हे अनुमान से ही कह सका और विशेष विगत के लिए उन्हे किन-किन मित्रो से सपर्क साधना चाहिए, यह बता दिया।

उसके बाद कुछ ही समय मे अथवा उसी अरसे मे बाई प्राज्ञ पाठशाला के तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी गाधीजी के कहने से मुझसे मिलने आये। हमारे स्मृति-वचनो में अनेक उल्टे-सुल्टे वचन आते हैं और उनसे सामान्य लोगों को बड़ी दुविधा पैदा हो जाती है। जिसको जो अच्छा लगता है,

उसीको वह ले लेता है। इसलिए गाधीजी चाहते थे कि प्रत्येक स्मृति का काल निर्णय करके काल के क्रम से स्मृति को व्यवस्थित किया जाय, जिससे स्मृतियो में विसवाद दिखाई न दे और समाज की प्रगति के साथ-साथ स्मृतियो मे जो-जो वचन आये अथवा जो-जो अर्थ किया गया हो, वह समझा जा सके। इस प्रकार विशेषकर अस्पृश्यता सबधी स्मृति वचनो को काल के अनुक्रम से व्यवस्थित करने का विचार करके गाधीजी ने यह काम तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री को सौपा था और उसके लिए पैसो की और दूसरी व्यवस्था करने का सकेत किया था और इसी सबध मे श्री लक्ष्मणशास्त्री मेरे पास आये थे।

इस समय भी श्री सावरकर के साथ एक छोटा, किंतु उनके विचारो का सूचक, प्रसग उपस्थित हो गया। मैं श्री लक्ष्मणशास्त्री को पतित पावन मदिर में दर्शनो के लिए ले गया। वहा श्री सावरकर से भेट हो गई। इधर-उधर की कुशल-मगल की बातो के बाद श्री सावरकर शास्त्रीजी को एक ओर ले गये और उनसे कुछ बातें की। यह बातचीत क्या होगी, मुझे इसका कुछ थोडा सा अनुमान था। लेकिन शास्त्रीजी के साथ हुई निजी बातचीत मैं उनसे क्यो पूछता ? वहा से वापस लौटने के बाद शास्त्रीजी ने मुझसे पूछा—"दादासाहब, सावरकर ने मेरे साथ क्या बातचीत की, इसका कुछ अनुमान लगा सकते हो।" मैंने कहा—"हा, किंतु आपके साथ हुई निजी बातचीत के विषय में मैं क्यो अपना सिर खपाऊ ?" शास्त्रीजी हसे और बोले—"उन्होने कोई लबी-चौडी बात नही की, मुझे इतना ही कहा कि हिंदुस्तान मे लगभग बारह सौ अग्रेज (आई० सी० एस०-वाले) दमन-चक्र द्वारा राज्य चला रहे हैं। यह देखते हुए भी आप सारे काग्रेस के महा-रथी किसलिए चूडी पहने बैठे हुए हैं ? आप लोग यदि चाहे तो एक क्षण मे इन सबको समाप्त कर सकते हैं।" शास्त्रीजी ने उन्हे उनका कोई जवाब नही दिया।

: २६ :

दो प्रश्न और उनका समाधान

मार्च १९३४ में मेरे निर्वासन का एक वर्ष पूरा हो चुका था और इस-लिए, जैसाकि मैंने पहले विचार किया था, सरकारी आज्ञा के भंग करने का समय आ पहुंचा था। जिस मुद्दे पर आज्ञा भंग करना था, उसकी सूचना सरकार को किस प्रकार दी जाय, इस संबंध में मेरे मन में मंथन चल रहा था। आज्ञा-भंग का मेरा मुद्दा बिल्कुल छोटा और मर्यादित था। विशेषाधिकार के अंतर्गत जारी किये गये आदेश के विषय में हर छठे महीने फिर से जांच करने की कानून में व्यवस्था थी। सरकार ने विधान सभा में यह आश्वासन देकर, कि किसी भी व्यक्ति की स्वतंत्रता का अनिश्चित समय तक और अन्यायपूर्वक अपहरण न होगा, कानून में इस धारा का समावेश कराया था और उसके अनुसार मेरे विरुद्ध जारी किये गये आदेश के विषय में एक वर्ष की समाप्ति पर पुनर्विचार का दूसरा दौर आने पर, और यदि सरकार ने इस आदेश को रद्द न किया, तो यह बताकर कि सरकार अपने विशेषाधिकार का खुले तौर पर दुरुपयोग कर रही है, उस दुरुपयोग का विरोध करने के लिए मैं उसके आदेश को भंग करनेवाला था। अपनी व्यक्तिगत लड़ाई मैंने उपरोक्त ढंग से लड़ने की योजना बनाई थी।

किंतु इसी अवधि में, ७ अप्रैल को, गांधीजी ने आंदोलन को वापस लेते हुए पटना से एक वक्तव्य प्रकाशित किया था। फलस्वरूप सरकार अपनी नीति पर पुनर्विचार करके सारे कांग्रेसियों पर से प्रतिबंध हटा लेगी, यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा। इस कारण आज्ञा-भंग का आधार ही समाप्त हो गया। सरकारी आदेश की अवहेलना करने की मेरी इच्छा मन-की-मन में ही रह गई।

मेरे रत्नागिरि निवास के समय सरदार नासिक जेल में थे। उनके साथ मेरा काफी पत्र-व्यवहार चलता था। इसमें जिन बातों पर चर्चा होती, उसमें दो विषय महत्व के थे—एक बिहार का भूकंप और दूसरा अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी।

बिहार के भूकप के समय मुझे लगा कि रत्नागिरि मे निरर्थक बैठे रहने की अपेक्षा बिहार जाकर वहा सकट-निवारण के काम मे सहायता की जाय तो कितना अच्छा हो ! किंतु बबई-सरकार की स्वीकृति प्राप्त किये बिना मेरा बिहार जाना कैसे हो सकता था ? इसलिए मैंने सरदार को अपना विचार लिखकर सलाह मागी। मैंने यह भी बता दिया था कि मेरा यह विचार जरा भी नही है कि बिहार के लिए इजाजत चाहने के कारण मुझ पर लगे प्रति-बध एकदम दूर हो जाय और बिहार जाते-आते मैं अहमदाबाद जाऊ। मेरी माग तो केवल बिहार जाने भर की छूट देने की ही होगी। इसके उत्तर मे सरदार ने बताया कि मुझे सरकार को इस प्रकार नही लिखना चाहिए, क्योकि इस प्रकार की माग का सरकार की, और जनता की दृष्टि मे भी, उल्टा अर्थ लगाया जाना सभव है। सरदार का मार्ग-दर्शन मुझे उचित प्रतीत हुआ और इसलिए मैंने बिहार जाने की इजाजत मागने का विचार छोड दिया।

दूसरा विषय अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी सबधी था। जब मार्च १९३३ मैं गिरफ्तार हुआ था, तब अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी का मैं अध्यक्ष था और नवबर १९३३ मे उसके नये चुनाव होने तक मैं अध्यक्ष बना रहा। मेरी गैरहाजिरी मे माणिकलाल चतुरभाई शाह उपाध्यक्ष के रूप मे सब काम स्व० भाई बलूभाई ठाकुर की सलाह और मार्ग-दर्शन मे अच्छी तरह चलाते रहे।

नवबर मे नये चुनाव का समय आने पर मित्रो के आग्रह के कारण मैंने अपनी उम्मीदवारी दर्ज करवा दी। म्युनिसिपल दल, उसकी रचना और उसका कार्यक्रम आदि सब श्री बलूभाई ने बनाया था। चुनावो मे काग्रेस दल के बहुमत मे आ जाने पर अध्यक्ष किसे चुना जाय, यह प्रश्न दल के सदस्यो के सामने खडा हुआ।

उस समय मेरे मित्र सेठ रणछोडलाल अमृतलाल दिवाली के चार दिन मेरे साथ बिताने के लिए रत्नागिरि आये हुए थे। उसके कुछ ही दिन पहले मेरे वकील मित्र श्री बाबूराव केशवलाल मेहता भी किसी काम से नगर मे मुझसे मिल गये थे। इन दोनो ने म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष-पद सबधी बात मुझसे की थी। भाई बाबूराव और उनके से विचार के दूसरे मित्रो का

(जिनमे दीवान बहादुर हरिलाल देसाई भी थे) यह मत और आग्रहपूर्ण सलाह थी कि कुछ भी हो, मुझे अध्यक्ष-पद स्वीकार नही करना चाहिए। उनकी दलील यह थी कि यदि मैं फिर अध्यक्ष बन जाऊगा तो यह निश्चित समझना चाहिए कि सरकार मेरे निर्वासन-सबधी आदेश को वर्षो तक जारी रखेगी। मेरा इस तरह बिना कुछ काम किये अनिश्चित और लबे समय तक निर्वासन मे रहना उचित नही है। इसलिए काग्रेसी मित्र कितना ही आग्रह करें, फिर भी मुझे अध्यक्ष-पद स्वीकार नही करना चाहिए।

दूसरी ओर सेठ रणछोडभाई का आग्रह था कि अध्यक्ष-पद तो मुझे ही स्वीकार करना चाहिए और सरकार को करारा उत्तर देने के लिए काग्रेस दलवालों को भी चाहिए कि वे मुझे ही अध्यक्ष चुनें।

इस परिस्थिति में मेरी दशा बड़ी कठिन हो गई थी। मैं कुछ भी निर्णय करता, मेरे भाग्य में तो आलोचना सुनना ही रह गया था। यदि मै अध्यक्ष-पद स्वीकार करता हू, तो मित्र आलोचना करते—"देखो न, दादा तो मान के भूखे प्रतीत होते हैं। अहमदाबाद आकर स्वय म्युनिसिपैलिटी का काम देख नही सकते, फिर भो प्रतिष्ठा के लिए अध्यक्ष बने रहना चाहते है।" यदि मै अध्यक्ष बनने से इन्कार करता हू तो यह आलोचना होनेवाली थी —"सरकार को यह दिखा देना चाहिए कि काग्रेस के आदोलन को बल पहुचाने के कारण उसने जिन्हे निर्वासित किया है, उन्हीको म्युनिसिपैलिटी फिर चुनती है। किंतु खुद जेल तो जाते ही नही, निर्वासन मे भी उनकी अधिक समय तक रहने की इच्छा प्रतीत नही होती और इसलिए अब अध्यक्ष-पद पर रहने से इन्कार करते है!"

मेरे सामने प्रश्न यह था कि इस परिस्थिति मे मुझे क्या करना चाहिए?

मैंने अपना विचार बना लिया और उसके अनुसार सेठ रणछोडभाई को सूचित किया कि अहमदाबाद जैसी बडी म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष अहमदाबाद से गैरहाजिर रहे, इस बात को मैं म्युनिसिपैलिटी के काम की दृष्टि से सर्वथा अवाछनीय मानता हू और इसलिए मुझे उसका अध्यक्ष नही होना चाहिए। आपको ऐसा ही अध्यक्ष चुनना चाहिए जो स्थान पर रहकर नियमित रूप से काम देखता रहे।

मेरी यह स्पष्ट सलाह थी। किंतु सेठ रणछोडदासभाई की दलील मे

वास्तविकता से अधिक आग्रह था। इसलिए मैंने कहा—"अहमदाबाद के लोकमत और आदोलन की स्थिति से मैं परिचित नही। म्युनिसिपैलिटी में आये हुए आप सब मित्रो को यदि यह प्रतीत हो कि अध्यक्ष के रूप मे मेरा चुनाव करने पर काग्रेस के आदोलन को बल मिलता है और वह बल देना चाहिए, तो मेरे निर्वासन का कुछ भी विचार किये बिना आप सबको जैसा उचित लगे वैसा ही करे।"

इस विषय पर सरदार के साथ मेरा लबा पत्र-व्यवहार हुआ और अत मे मैने उन्हे सूचित किया कि "मै अपनी म्युनिसिपल सदस्यता का त्याग-पत्र तत्काल भेज देता हू, जिससे मेरे अध्यक्ष चुने जाने का प्रश्न ही समाप्त हो जायगा। यदि दल की दृष्टि से ऐसा करना आपको उचित प्रतीत न हो, तो भी मै जब तक बोर्ड का सदस्य रहू, तब तक कोई भी पद स्वीकार न करने का निश्चय करता हू।"

: २७ :

रत्नागिरि से वापसी : गांधीजी व सरदार से भेंट

जैसाकि खयाल था, जून १९३४ मे मेरी नजरबदी की आज्ञा रद्द हुई। उसकी खबर मुझे १९ जून को मिली। मैं तुरत ही राजापुर जाकर (जहा १९०१-२ मे मैं अग्रेजी पाठशाला मे था) अपने मित्रो से मिल आया। मेरी माताजी और बालक आदि सभी उस समय गरमी के कारण रत्नागिरि आकर मेरे साथ रह रहे थे। उन सबको साथ लेकर रत्नागिरि के भाई-बहनो से विदा लेकर मैं २२ जून १९३४ को विशेष मोटर बस से कोल्हापुर के रास्ते अहमदाबाद के लिए रवाना हुआ। रत्नागिरि म्युनिसिपैलिटी, वहा के क्लब तथा अन्य मित्रो की ओर से मेरी विदाई के उपलक्ष्य मे चाय-पार्टिया आदि आयोजित की गई थी। विदाई के वे सभी आयोजन स्नेहपूर्ण थे। इन सब प्रसगो से इस बात का प्रमाण मिला कि मैं रत्नागिरि के नागरिको का प्रेम और विश्वास प्राप्त कर सका था।

हम लोग रत्नागिरि से रवाना होकर सबधियो और मित्रो से मिलने के लिए दो दिन कोल्हापुर और एक दिन सतारा ठहरकर २५ जून को

तीसरे पहर पूना पहुचे। उस समय महात्माजी पूना मे सेठ कृष्णदास के बगले मे ठहरे हुए थे। लगभग ६ बजे मैं वहां पहुचा और उनके दर्शन किये। उस दिन सोमवार होने के कारण महात्माजी का मौन था। पर मुझे देखते ही उन्होंने मुक्त हास्य करते हुए मुझ पर कुशल-मगल के प्रश्नो की पर्चियो की बौछार शुरू कर दी। इसलिए मैंने समय बचाने की दृष्टि से उन्हे बताया कि ७-१५ बजे उनका मौन छूटने तक मेरा वही ठहरने का विचार है। ७ बजे की प्रार्थना मे मैं सम्मिलित हुआ। उसके बाद गाधीजी के साथ ही उनकी मोटर मे म्युनिसिपल भवन गया, जहा उन्हे अभिनंदन पत्र दिया जानेवाला था। रास्ते में गाधीजी से विभिन्न ट्रस्ट-फडो आदि के सबध में बातचीत हुई, जिससे उनका समाधान हुआ।

म्युनिसिपल भवन में सब लोग गाधीजी की प्रतीक्षा मे बैठे थे। भीड बहुत अधिक थी, फिर भी गाधीजी के साथ होने और वहा मेरे कई परिचित लोगो के होने के कारण मुझे स्थान मिलने में कोई असुविधा नही हुई। लेकिन हमारे मोटर से उतरकर बाहर आने के बाद ही किसीने मकान की गैलरी से गाधीजी पर बम फेंका, किंतु सद्भाग्य से वह उन पर न गिरकर मोटर के पीछे के हिस्से पर गिरा। वह बाल-बाल बच गये और इसलिए सभी को बडा आनद हुआ और हमने भगवान का बडा अनुग्रह माना।

दूसरे दिन पूना से रवाना होकर बीच मे एक दिन बबई ठहरता हुआ मैं २९ जून की सुबह अहमदाबाद पहुचा और वहा फिर काम-काजी जीवन शुरू हो गया। उसी दिन दोपहर को मैं गाधीजी से मिलने गया। वहा 'नवजीवन' वाले श्री मोहनलाल भट्ट और सूरत के श्री कल्याणजीभाई मेहता भी आये हुए थे। भिन्न-भिन्न स्थलो से और भिन्न भिन्न मित्रों के पास से काग्रेस के और दूसरे फडो के हिसाब मगाकर इकट्ठे करने का काम पूरा नहीं हो पाया था। किंतु फंडो का प्रश्न निकलते ही मैंने कहा कि विशेष कामो के लिए खास तौर पर दिये गये फडो मे से लगभग सत्तर-पचहत्तर हजार रुपये काग्रेस के कार्य में खर्च हुए होगे। इस कारण उन फडो की रकम मे इतनी कमी की पूर्ति करनी होगी। मैंने किन प्रसंगो में और किस उद्देश्य से विशेष फंडों में से रुपये खर्च करने के लिए दिये, यह भी गाधीजी को बताया और कहा कि मुझे आशा है कि इस घटती की रकम के लिए चदा करके विशेष फडों

की रकम की पूर्ति आप कर देंगे। यह सुनते ही गाधीजी ने मोहनलाल भट्ट की ओर देखते हुए कहा—"नवजीवन की बचत की रकम इस चदे मे गई, ऐसा समझना।" मोहनलालभाई उनकी ओर देखते-के-देखते रह गये और गाधीजी भी हसते-हसते यह सब सरलता से कह गये। इसी समय भाई कल्याणजीभाई ने कहा कि सूरत काग्रेस कमेटी ने लगभग बीस हजार की रकम अमानत के रूप में प्रातीय काग्रेस कमेटी के पास रखी थी, वह भी उन्हे मिलनी चाहिए। इस पर गाधीजी ने हसते-हसते उनसे कहा—"बैक ने दिवाला निकाल दिया है। आपने तो रुपये सभाल कर रखने के लिए दिये थे, किंतु बैक के पास अब देने के लिए कुछ भी शेष नही है, इसलिए आपका दावा खारिज ही होगा न ?" बाद को सब फडो का हिसाब करने पर पता चला कि विशेष फडो की रकम में से लगभग सत्तर हजार रुपये खर्च हो जाने का जो पहला अनुमान था, वह ठीक नही था। सब विशेष फडो की रकमे ज्यो-की-त्यो सुरक्षित थी और इसलिए 'नवजीवन' की रकम भी नवजीवन ट्रस्ट को सुरक्षित सौप दी गई।

मेरी रिहाई के बाद धीरे-धीरे प्रमुख काग्रेसियो का भी छुटकारा होता गया। १४ जुलाई १९३४ को नासिक जेल से सरदार की रिहाई होने का समाचार अहमदाबाद में मिला। अत में १८ जुलाई को उनसे मिलने के लिए बबई पहुचा और उनसे मिलकर उनसे गुजरात की सारी स्थिति, काग्रेस के कार्य और ट्रस्ट-फडो आदि सबधी बातें और चर्चा की। इसके बाद भी मै जब-जब बबई जाता, सरदार से मिलकर अनेक विषयो पर चर्चा करता। इन बातो के दरम्यान गुजरात विद्यापीठ की लाइब्रेरी म्युनिसिपैलिटी के हवाले किये जाने का भी एक प्रसग आया।

जुलाई १९३३ मे जिस समय गाधीजी ने आश्रम भग करके उसका परित्याग करने का निर्णय किया था, उस समय आश्रम मे उनकी दक्षिण अफरीका की लाइब्रेरी की तथा देश में आने के बाद एकत्रित पुस्तको की एक लाइब्रेरी थी। उसे गाधीजी ने अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी को सौंप देने का निश्चय किया और इसके लिए उन्होने म्युनिसिपैलिटी से जो प्रार्थना की, वह उसने स्वीकार करली। मैं उस समय रत्नागिरि मे था। गाधीजी की लाइब्रेरी म्युनिसिपैलटी को मिलने पर उसके लिए एक

विशेष भवन बनवाने का भी निश्चय किया गया। इसकी सूचना मिलते ही उस भवन के लिए आवश्यक निधि की पूर्ति के लिए म्युनिसिपैलिटी के पास प्रार्थनाएं आईं। उनमें अहमदाबाद के निवासी स्व० माणिकलाल जेठालाल के सुपुत्र सेठ रसिकलाल भाई की ओर से पचास हजार रुपये के दान की प्रार्थना भी थी। म्युनिसिपैलिटी ने उसे स्वीकार कर लिया। आश्रम छोड़ते समय गांधीजी ने जिन विचारों से आश्रम की लाइब्रेरी म्युनिसिपैलिटी को सौंपने का निश्चय किया, वैसे ही विचारों से काका-साहब कालेलकर ने गांधीजी को जताकर गुजरात विद्यापीठ की लाइब्रेरी भी म्युनिसिपैलिटी को सौंपने का निश्चय किया और विद्यापीठ मंडल के ट्रस्टियों की ओर से उन्होंने स्वयं कलेक्टर को वह लाइब्रेरी म्युनिसिपैलटी को सौंपने की सूचना दी। इसका कारण यह था कि म्युनिसिपैलिटी को पत्र भेजे जाने के पहले ही सरकार ने विद्यापीठ की दूसरी मिल्कियत के साथ ही लायब्रेरी को भी जप्त कर लिया था। उसके बाद यथासमय उपर्युक्त लाइब्रेरी म्युनिसिपैलिटी के अधिकार में आ गई थी। इस प्रकार आश्रम की और विद्यापीठ की दोनों लाइब्रेरियां म्युसिपैलिटी के अधिकार में आ गई थीं।

: २८ :

विद्यापीठ-लाइब्रेरी का मामला

जेल से छूटने के बाद गुजरात के काम-काज के संबंध में सरदार के पास जिन अनेक प्रश्नों को सुलझाने का काम पड़ा था, उनमें विद्यापीठ का काम बहुत महत्व का था। विद्यापीठ के सरकार से सर्वथा स्वतंत्र और राष्ट्रीय ढंग से शिक्षा देनेवाली संस्था होने के कारण शिक्षण के क्षेत्र में उस पर महत्व का कार्य-भार था और आंदोलन के दिनों में विद्यापीठ के छिन्न-विच्छिन्न हुए काम के लिए क्या व्यवस्था की जाय और किस प्रकार की जाय, यह प्रश्न सरदार के सामने था। उस संबंध में मुझसे बात करते हुए उन्होंने कहा—"काकासाहब ने विद्यापीठ की लाइब्रेरी म्युनिसिपैलिटी को सौंप दी। उनका यह कार्य उनके अधिकार-क्षेत्र के बाहर था और इसलिए

मैं विद्यापीठ के एक जिम्मेदार ट्रस्टी की हैसियत मे उस दान को मान्य कर नही सकता। इस सवध मे म्युनिसिपैलिटी को वाकायदा नोटिस देकर मुझे उस लाइब्रेरी को म्युनिसिपैलिटी से वापस लेना होगा।"

सरदार की वात सुनकर मुझे धक्का लगा, किंतु इसलिए नही कि म्युनिसिपैलिटी के हाथ से लाइब्रेरी चली जायगी, वरन इसलिए कि काकासाहब ने जो कुछ किया, कानून के अनुसार उसकी जाच कर सरदार उसके लिए म्युनिसिपैलिटी को नोटिस दें, यह तरीका ही मुझे अप्रिय प्रतीत हुआ। वैसे सरदार का उद्देश्य शुद्ध और न्याय-सगत था। मुझे इस विषय मे कोई शका नही थी कि ऐसा करने मे उनकी काकासाहब पर रोष जताने की जरा भी वृत्ति है। इतने पर भी सरदार जिस ढग से लाइब्रेरी को वापस लेने का विचार कर रहे थे, वह सर्वथा उचित नही था और मैं समझता था कि इससे लोगो में उनके सवध मे वहुत गलतफहमी पैदा हो जायगी और मित्रो में आपस मे वैमनस्य के भाव वढ जायगे। इसलिए मैंने सरदार से कहा—"म्युनिसिपैलिटी से विद्यापीठ की लाइब्रेरी वापस लेने के लिए आप इतने आतुर क्यो हैं ? म्युनिसिपैलिटी भी तो अपनी ही है न ? इस लाइब्रेरी का उपयोग तो हर कोई कर सकेगा।" इस पर सरदार ने कहा—"विद्यापीठ के काम का विकास करना हो तो लाइब्रेरी स्वतत्र हाथो में होनी चाहिए। म्युनिसिपैलिटी का तत्र अपने हाथ मे अवश्य है, किंतु वह सरकारी अकुशो से मुक्त नही है, इसलिए न तो उसमें लाइब्रेरी का विकास हो सकता है, न विद्यापीठ के उद्देश्य की पूर्ति करनेवाला अध्ययन या अध्यापन ही हो सकता है। अत मैं इस लाइब्रेरी के विना विद्यापीठ को एक वास्तविक रूप कैसे दे सकता हू ?" इसके वाद वह अपनी विशेष्ट शैली मे वोले—"विद्यापीठ मे विद्याभ्यास और शोध का यह साधन न हो तो उसमे मैं क्या भैंसें वाधूगा ?" सरदार का कथन मुझे सर्वथा सार्थक और उचित प्रतीत हुआ और मैं भी यह अनुभव करने लगा कि यह लाइब्रेरी विद्यापीठ को वापस मिलनी चाहिए। एक प्रकार से पुस्तक-सग्रह विद्यापीठ के कार्य का प्राण-स्वरूप है। फिर भी म्युनिसिपैलिटी को बाकायदा नोटिस देकर उसकी माग करने की बात मेरे गले नही उतरी और इसलिए मैंने सरदार से कहा—"म्युनिसिपैलिटी और विद्यापीठ किस तरह जुदा हैं ? काग्रेस का काम आगे बढाने के लिए ही तो

हम सब म्युनिसिपैलिटी मे गये हैं; इसलिए आप बाकायदा नोटिस देने के बजाय म्युनिसपल अध्यक्ष को एक पत्र लिखें कि विद्यापीठ के काम के सिलसिले में विद्यापीठ की लाइब्रेरी वापस ले लेने की मेरी इच्छा है। म्युनिसिपैलिटी मे अपने दल के हम उन्नीस-बीस सदस्य हैं। इसलिए उचित प्रस्ताव करके आपको लाइब्रेरी वापस सौंप देंगे। फिर कानून की गहराई में जाने पर एक और भी खतरा है। सच या झूठ कैसा भी हो, कइयों के मन में यह खयाल जम गया है कि आप काकासाहब के विरोधी हैं, इसलिए विद्यापीठ के लिए नहीं, बल्कि काकासाहब ने जो कुछ भी किया उसे निष्फल करने के लिए आप कानूनी दाव-पेंच की बात करते हैं। लोगो पर इस तरह की छाप पडना किसी भी दृष्टि से वाछनीय नही है। इसलिए आप और किसी झगडे में न पडकर अथवा कानूनी दलीलो में न जाते हुए केवल लाइब्रेरी की माग का पत्र म्युनिसिपल अध्यक्ष को लिख दें (उस समय स्व० बलूभाई ठाकुर म्युनिसिपल अध्यक्ष थे), मैं अहमदाबाद जाकर मित्रो से बात कर लूगा।" सरदार ने मेरी बात स्वीकार करली।

मैंने अहमदाबाद आकर म्युनिसिपल कमेटी के सदस्य मित्रो को सरदार के साथ हुई बातचीत सुनाई। उसे सुनकर वे अप्रसन्न हुए। मित्रो का कहना था कि विद्यापीठ को लाइब्रेरी वापस करना कमेटी के अपमान के समान है। मैं तो कुछ समझ नही पाया कि इसमें म्युनिसिपैलिटी का अपमान क्यों और किस प्रकार होता है? मैं चुप रह गया और अपने पूर्व विचारों के अनुसार मैंने सरदार को जो सलाह दी थी, विवश होकर वह छोड देनी पड़ी। मैंने सरदार से कहा कि "दूसरी तफसील मे न जाकर म्युनिसिपैलिटी को केवल इतना ही लिखिये कि लाइब्रेरी म्युनिसिपैलिटी को सौंपी तो गई है, किंतु वह विद्यापीठ के समूचे ट्रस्टी मडल के अधिकार के बाहर की बात है, अत वह विद्यापीठ को वापस मिलनी चाहिए।" तदनुसार सरदार का इसी आशय का पत्र म्युनिसिपैलिटी के पास गया। उस पर म्युनिसिपैलिटी के काग्रेस-दल में खूब गरमा-गरम बहस हुई। उनमे अकेला मैं ही ऐसा था जिसका यह मत था कि लाइब्रेरी विद्यापीठ को वापस सौंप देनी चाहिए। इसके बाद श्री गुलजारीलाल नदा भी मेरे मत के समर्थक हो गये। किंतु दूसरे बहुमत की यह तीव्र भावना थी कि सरदार को लाइब्रेरी वापस नहीं

मागनी चाहिए। लगभग घटे भर चर्चा होने के बाद हमारे म्युनिसिपल दल के दो व्यापारी सदस्य बीच में पडे और उन्होने कहा—"सरदार का कहना उचित हो अथवा अनुचित, हमारी समझ मे आये या न आये, किंतु इतनी छोटी सी बात पर सरदार के विरोध में खडे होकर झगडा करने मे हमारी कुछ शोभा नही है। इससे काग्रेस लोगो में हसी की पात्र बनेगी, इसलिए सरदार के साथ विचार-विनिमय करके जो मार्ग निकले और सरदार को मान्य हो, उस मार्ग का हमे अवलवन करना चाहिए।" इस प्रकार अत में विचार-विनिमय का मार्ग निश्चित किया गया।

: २६ :

गांधीजी का मत

इस विपय में गावीजी के साथ भी मेरा पत्र-व्यवहार हुआ था। लोगो मे सरदार के विपय मे गलतफहमी होने के भय का भी मैंने अपने पत्र मे उल्लेख कर दिया था। उन दिनो काकासाहव के गुजरात छोडने की वात भी चल रही थी, अत उसके साथ लाइब्रेरी का प्रश्न जुड जाने से गलतफहमी के और भी वढ जाने की आशका भी मैंने उसमे व्यक्त की थी। उत्तर में गाधीजी ने वर्धा से अपने १५ सितवर १९३४ के पत्र में लिखा

"विद्यापीठ की लाइब्रेरी का काकासाहव के गुजरात छोडने के साथ किसी भी प्रकार का सवध नही है। यदि मूल ट्रस्टी को विद्यापीठ की लाइब्रेरी सौपने का अधिकार न हो, तो सब मिलकर उसका दान करें तो भी वह गैरकानूनी होगा। यदि तुम्हारा मत यह हो कि ट्रस्टियो को दान करने का अधिकार था, तो मैं समझता हू काका की की हुई दूसरी भूल (लाइब्रेरी के दान की) के लिए सरदार कुछ भी नही करना चाहते। स्वय एक ट्रस्टी होने के कारण वह अपना कर्तव्य समझ लेना चाहते हैं। मुझे इस विपय मे कुछ कहने जैसी वात नही दिखाई पडती। किंतु काका को ऐसे कानून की अजानकारी रही हो तो मैं काका को दोप नही दूगा।"

इसी पत्र में गाधीजी आगे लिखते हैं—"काका को गुजरात छोडना चाहिए या नही, इस प्रश्न का निर्णय तो अत मे मुझे करना है। उसके साथ

सरदार का कोई सबंध नहीं है। मैं काका को भागने नहीं दूंगा। विवश होने पर ही वह जा सकेंगे। किंतु तुम और दूसरे साथी इस विषय में निश्चिंत और निर्भय रहो।"

अंत में गांधीजी ने लिखा—"केवल वकील के रूप में कानून के अनुसार अपना निर्णय लिखो।"

इस प्रकार केवल कानूनी प्रश्न का ही निर्णय करना रह गया। वह प्रश्न केवल इतना ही था कि समूचा विद्यापीठ-मंडल सर्वसम्मति से भी म्युनिसिपैलिटी जैसी अर्द्ध-सरकारी अथवा सरकार-नियंत्रित संस्था को विद्यापीठ की लाइब्रेरी का दान कर सकता है या नहीं। गांधीजी ने, और उसी तरह सरदार ने भी, इस प्रश्न पर निर्णयात्मक मत देने का काम मेरे ऊपर छोड दिया। किंतु मैंने अपने म्युनिसिपल मित्रों की मान्यता का खयाल करके इस निर्णय का उत्तरदायित्व लेने से इन्कार कर दिया। मैं सब कागज-पत्र और कानून देखकर कहीं इस निर्णय पर पहुंचूं कि लाइब्रेरी का म्युनिसिपैलिटी को दिया गया दान समूचे ट्रस्टी-मंडल के अधिकार के बाहर की बात थी, तो मेरे म्युनिसिपल मित्र मेरी शुद्ध बुद्धि स्वीकार करने को तैयार होंगे या नहीं, मुझे इसका भरोसा नहीं था। इस दिशा में अपना पिछला अनुभव भी मुझे घबराहट में डाल रहा था। इसलिए मैंने निर्णय देने का उत्तरदायित्व स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और यह सुझाव दिया कि सब कागज-पत्रों के साथ सारी परिस्थिति बंबई के किसी अच्छे कानूनी पंडित के सामने रखकर उसकी राय के अनुसार दोनों पक्षों को कार्रवाई करनी चाहिए। म्युनिसिपल मित्रों और सरदार, दोनों ने ही यह सुझाव पसंद किया। इस पर म्युनिसिपैलिटी ने एक प्रस्ताव पास करके तीन वकीलों के नाम बताये और इनमें से सरदार जिन्हें पसंद करें, उन्हीं पर निर्णय देने का भार सौंपने का निर्णय किया। सरदार ने बंबई के एक समय के एडवोकेट जनरल श्री बहादुरजी का (जिन्होंने कांग्रेस की एक समिति में ठोस काम किया था) नाम स्वीकार किया।

अब प्रश्न यह आया कि निर्णय प्राप्त करने के लिए जो सविस्तार विवरण लिखना हो, तो वह कौन लिखे। स्वभावत. ही यह काम मेरे ऊपर आ पडा। किंतु मुझे अपना अकेले का ही यह काम करना ठीक नहीं लगा, क्योंकि

वकील जो भी निर्णय करता, कई अशो में वह उस विवरण पर ही आधारित होता। इससे मुझे अपने विषय मे यह गलतफहमी होने का भय था कि सरदार को प्रसन्न करने के लिए मैंने म्युनिसिपैलिटी का मामला प्रामाणिक ढग से प्रस्तुत न करके सरदार की इच्छा के अनुरूप तैयार किया है। इसलिए मैंने म्युनिसिपल कमेटीवाले मित्रो को बताया कि मैं विवरण तो तैयार कर दूगा, किंतु उसमे आवश्यक सशोधन-परिवर्धन करके उसको अतिम रूप देने का काम म्युनिसिपल सदस्यो की एक ऐसी छोटी सी समिति को सौपा जाय, जिसमें भिन्न-भिन्न मत के सदस्यो के प्रतिनिधि हो। ऐसा करने से सब प्रकार के दृष्टि-बिंदु और दलीलें विवरण मे दे जा सकेंगी। इसके अनुसार एक समिति नियुक्त हुई। स्व० कालिदास जसकरण जवेरी, स्व० श्री दौलतराम उम्मेदराम शाह और स्व० श्री चाहेवाला उसके सदस्य हुए। मैंने जो मस्विदा तैयार किया, उसे समिति के ये सदस्य देख गये। किसीने भी उसमे कुछ परिवर्तन नही सुझाया, न किया ही। किंतु उस पर समिति की सहमति की मुहर लग जाने से मैं निश्चित हो गया।

मैं जिस समय यह लिखने बैठा, उस समय मेरी यह धारणा थी कि लाइब्रेरी का दान देना समूचे ट्रस्टी-मडल के अधिकार के अतर्गत था। किंतु जैसे-जैसे मैं कागज-पत्र पढता गया और कानून का अध्ययन करता गया, त्यो-त्यो मुझे यह निश्चय होता गया कि विद्यापीठ का समूचा ट्रस्टी-मडल भी यह दान नही कर सकता। मैंने निजी तौर पर यह बात गाधीजी को बता दी थी कि ऐसा करना ट्रस्टी-मडल के अधिकार के बाहर की बात थी और इसके साथ ही श्री बहादुरजी का मत प्राप्त करने के लिए जो विवरण तैयार किया था, उसकी भी एक नकल उनके पास भेज दी थी, क्योकि उसमे वस्तु-स्थिति और कानूनी दलील, दोनो का समावेश किया हुआ था। इसके उत्तर में गाधीजी ने दिल्ली से २१ जनवरी १९३५ को लिखे पोस्ट-कार्ड में लिखा

"तुम्हारा पत्र और विद्यापीठ के पुस्तक भडार संबधी कागज-पत्र मिले। आशय मेरे गले नही उतरा। किंतु अपने मत का कुछ भी मूल्य मैं नही समझता।"

इनके बाद श्री बहादुरजी का भी यही निर्णय आया कि विद्यापीठ के

मूल सविधान को देखते हुए म्युनिसिपैलिटी-जैसी सस्था को पुस्तक भडार का दान करना मूल उद्देश्य के विपरीत होने के कारण समग्र ट्रस्टी-मडल के अधिकार के वाहर था। विद्यापीठ १९२१ में सरकार के साथ आरभ हुए असहयोग के आधार पर और सरकार से सर्वथा स्वतत्र शिक्षा देने के उद्देश्य को लेकर स्थापित हुआ था। म्युनिसिपैलिटी-जैसी सरकार के नियत्रण मे चलनेवाली सस्था के अधिकार में विद्यापीठ का पुस्तक भडार रहने से विद्यापीठ का मूल उद्देश्य सध नही सकता था और इसलिए उसका ट्रस्टी-मडल म्युनिसिपैलिटी-जैसी सस्था द्वारा अपना काम चलाने के लिए उसे पुस्तक सग्रह का दान नही कर सकता।

इस निर्णय से विद्यापीठ के पुस्तकालय के प्रश्न का निराकरण समाधानपूर्वक हो गया और पुस्तक भडार विद्यापीठ को वापस सौप दिया गया।

: ३० :

सावरमती आश्रम का ट्रस्टी पद

जिन दिनो मैं रत्नागिर मे निर्वासित था, उस समय मुझे श्री जमनालाल वजाज का ९ अक्तूबर १९३३ का लिखा इस आशय का एक पत्र मिला कि गाधीजी मुझे सावरमती हरिजन आश्रम का एक ट्रस्टी वनाना चाहते हैं। ट्रस्ट के उद्देश्यो के अतर्गत रहते हुए वह ट्रस्टी के कार्य का स्वरूप केवल हरिजनो तक ही सीमित एव मर्यादित करना चाहते हैं और अहमदावाद के तीन सज्जनो को ट्रस्टी वनाना चाहते हैं। इन तीन मे मेरे अतिरिक्त सेठ रणछोडलाल अमृतलाल तथा भाई शकरलाल वैंकर थे। मैंने अपनी स्वीकृति लिख भेजी।

उसके वाद हरिजन आश्रम (सत्याग्रह आश्रम) के ट्रस्टी पद के सवध में गाधीजी ने मुझे २० नववर १९३४ को यह पत्र लिखा ·

"केवल पैसे पैदा करने की टकसाल मे जुट जाने से काम न चलेगा। हरिजन आश्रम की गोशाला का भार उठाओगे न ? हरिजन आश्रम और गुजरात के हरिजन कार्य का खर्च गुजरात से ही प्राप्त करना चाहिए।

यह तो निश्चय है कि यह वोझा सरदार से न खिचवाया जाय। वह अपनी इच्छानुसार सहयोग देंगे। दूसरी चिंता से वह दूर रहना चाहते हैं। तुम्हें, रणछोडलाल को और शकरलाल वैकर को निमंत्रित करने का अर्थ यही है कि यह खर्च तुम लोग दो या इसके लिए भीख मागो। तुम यह तो न चाहोगे कि मैं वाहर से भीख मागकर दू ? मेरा भरोसा भी क्या ? थोडे ही समय मे पता लगेगा और तुम भी जान जाओगे कि मैं कहा होऊगा। इसलिए अपनी टकसाल मे से थोडा समय हरिजनो के लिए और थोडा गाय के लिए निकालना। किंतु मेरा अनुमान गलत हो और इस समय तुम स्वय कर्ज मे फसे हो और उससे छुटकारा पाने के लिए अर्जन करते हुए पारमार्थिक काम मे लगाने के लिए एक क्षण भी न वचता हो, तो स्पष्ट कहना, जिससे तुम्हे तग न करू। लोगो के पास से शक्ति से अधिक काम कराते हुए ६६ वें वर्ष मे आ पहुचा हू। पुरानी पडी आदत एकदम कैसे छूट सकती है ? किंतु कुछ तटस्थता आई है। सब शक्ति के अनुसार ही काम करें, इस प्रलोभन से काग्रेस के वाहर तो आया हू, किंतु अभी निजी साथियो से वाहर नही हुआ। ऐसा करने के लिए कलम छोड देनी चाहिए और मौन साधना चाहिए, अथवा केवल अखवारो के जरिये ही काम लेना चाहिए। ऐसा करने की शक्ति नही आई है। अभी मोह वना हुआ है। इसलिए ऐसे पत्र लिखता हू। किंतु चेतावनी भी देता हू। मुझसे सकोच न करना। धर्म समझकर जितना हो सके, उतना करो, तो उतने से ही मुझे सतोष होगा। ऐसा ही कुछ रणछोडलाल और शकरलाल को लिखा है।"

इस पत्र के उत्तर में मैंने गाधीजी को लिखा कि जिसे उन्होंने टकसाल माना है, वैसी वकालत मे मैं नही फसा हू। पिछले कितने ही वर्षो से मेरा बहुत सा समय सार्वजनिक कामो मे, और विशेषकर म्युनिसिपैलिटी के कामो में जाता है। साथ ही यह भी वताया कि मैं कर्जदार तो नही हू, किंतु आय में कुछ वृद्धि हो सके तो मैं भिन्न-भिन्न दिशाओ में जो खर्च करता हू (जिनमें सस्थाओ की सहायता भी सम्मिलित है), वह पूरा हो जाय और वकालत छोडकर अपना सारा समय सार्वजनिक सेवा मे अर्पित करने का सन १९१३ से पोषित जो आदर्श मैंने सामने रखा है, उसे भी पोषण मिले। गोशाला और हरिजन आश्रम दोनो के लिए जो कुछ भी दिया जा सकेगा,

अवश्य दूगा और भिक्षा मागने का भी प्रयत्न करूगा । मैंने ट्रस्टी-पद की अवधि पाच वर्ष की मानी थी, अत उससे पहले मैं आय का साधन—वकालत—छोड देता, तो यह स्वाभाविक ही था कि आर्थिक सहायता देने के वधन से मुझे मुक्ति मिल जाती, फिर भी मैंने वात साफ करने की दृष्टि से वैसा लिखा था । इसी प्रकार गाधीजी ने गोशाला और हरिजन आश्रम के ट्रस्टो के जो मूल तत्व माने हो, उन्हे पूरा करने के विश्वास के साथ लिखा था कि ट्रस्टो की व्यवस्था मे ट्रस्टियो को स्वतत्रता होनी चाहिए ।[1]

मेरे २५-२६ नववर १९३४ के पत्र के उत्तर में गाधीजी ने मुझे ३ दिसबर १९३४ को निम्नलिखित पत्र लिखा ·

"तुम्हारा पत्र मिला । मेरे लिए तो वह पूर्ण सतोपदायी है । मुझे चिंता से मुक्त करता है । पाच वर्ष तक इतनी हानि सहते हुए भी गोशाला न चले तो उसे वद ही करना होगा । हरिजन आश्रम के सवध मे ट्रस्टियो के विषय में तुमने जो कुछ लिखा है, वह मुझे सर्वथा मान्य है । सिद्धातो के अनुसार व्यवस्था चलाने मे ट्रस्टियो को पूर्ण स्वतत्रता होनी चाहिए ।

"अवकाश निकालकर आवश्यक वातें नरहरि भाई से कर लेना ।

"तुम्हारे ऊपर वोझ तो लादता हू । यह भी जानता हू कि तुम्हारा शरीर वोझ सहन कर सकने योग्य नही है । किंतु भार तो जो सहन करता आया है, उसी पर डाला जा सकता है न ? लेकिन शक्ति से अधिक प्रतीत हो तो मुझे चेताना ।

"जव तुम भी मेरी ही तरह भिखारी वनो तवगे जाति-वधन से तो मुक्त होओगे ही, किंतु तव भिक्षा प्राप्त करने की शक्ति भी तो वढ जायगी न ? और उस शुभ को देखने के लिए भी मैं जीवित रहूगा न ! किंतु तुम किसी दिन भी पूर्ण सन्यास लोगे, यह विश्वास लेकर मरनेवाला हू ।"

गाधीजी के इस पत्र से ट्रस्टी पद की जिम्मेदारी के विषय मे मुझे एक प्रकार की शाति मिली और हरिजन आश्रम का ट्रस्टी पद आरभ मे तीन वर्ष के लिए स्वीकार करने के वाद मैं आज तक उसका ट्रस्टी वना हुआ हूं ।

---

१ इस पूरे पत्र की नकल के लिए देखिये परिशिष्ट २

: ३१ :

सत्याग्रह आश्रम का नया स्वरूप

सत्याग्रह आश्रम को हरिजन आश्रम के रूप मे परिवर्तित करने पर ट्रस्टियो में भी हेर-फेर हुआ। उस विषय मे गाधीजी की योजना यह थी कि हरिजन सेवक सघ के कुछेक प्रतिनिधि इसके ट्रस्टी के रूप में लिये जायं और अहमदावाद के प्रतिनिधियो के रूप में तीन को लिया जाय। इस प्रकार हरिजन आश्रम के ट्रस्टी के रूप मे मेरे साथ पूज्य ठक्कर वापा, श्री घनश्यामदास विडला और प० हृदयनाथ कुजरू आदि आश्रम के ट्रस्टी हुए और आश्रम की प्रवृत्तियो में हरिजन कार्य को महत्व का और मुख्य स्थान प्राप्त हुआ। वहा जो प्रवृत्तिया चलाई जा रही थी, उनमें हरिजन कन्या-छात्रालय और गोशाला, ये दो उनके मुख्य अग थे। इनके अलावा आश्रम से स्वतन्त्र खादी, ग्रामोद्योग आदि कार्य भी चलते थे।

गाधीजी को, अथवा उनके दूसरे कानूनी सलाहकारो को यह प्रतीत हुआ कि आश्रम के वाहरी तथा भीतरी स्वरूप मे इस प्रकार परिवर्तन होने के कारण उसके लिए नया ट्रस्ट-डीड लिखा जाना चाहिए और नये ट्रस्ट-डीड का मस्विदा मेरी राय के लिए आया। मेरा यह स्पष्ट मत था कि एक वार जिस मिल्कियत के लिए ट्रस्ट वन गया, उसके लिए फिर दूसरा ट्रस्ट नही वन सकता। ट्रस्टियो को ऐसा करने का कोई अधिकार नही है। वे केवल मूल दस्तावेज की मर्यादा में रहकर ट्रस्ट के उद्देश्यो में आवश्यक परिवर्तन कर सकते हैं। मैंने गाधीजी को भी भी वता दिया। किंतु मेरी वात कलकत्ते के उनके कानूनी सलाहकारो के गले नही उतरी। इसलिए उनका तैयार किया मस्विदा देख लेने के लिए मेरे पास आया।

नया ट्रस्ट वनाने के लिए दस्तावेज के आरभ में कुछ प्राथमिक विवरण देना चाहिए था। उसमें सस्था का इतिहास आ जाना चाहिए था। वह विवरण किस तरह लिखा जाय, यह मैं समझ नही पा रहा था। पहले जो ट्रस्ट वना था, वह कानूनी तौर पर कव समाप्त हुआ समझा जाय? नया ट्रस्ट वनाने के लिए पहले के ट्रस्ट में से मिल्कियत कानूनी तौर पर मुक्त हुई समझी जाय

या नहीं ? नया ट्रस्ट कौन बनाये ? उसका अधिकार किस व्यक्ति या व्यक्तियों को था ?—आदि अनेक अटपटे प्रश्न खड़े हो गये थे। इसलिए इन चर्चाओं के परिणामस्वरूप नये ट्रस्ट-डीड की बात लगभग तीन वर्ष तक चलती रही और अंत में मैंने आरंभ में जिस मुद्दे की बात उठाई थी, घूम-फिरकर वहीं आ गई। इसलिए नये दस्तावेज का विचार त्याग दिया गया और मूल दस्तावेज से प्राप्त अधिकारों के बल पर मूल ट्रस्टियों का चुनाव किया गया और आश्रम में विविध प्रवृत्तियों में से हरिजन प्रवृत्ति चलाने का निश्चय करके प्रवृत्तियों का स्वरूप मर्यादित कर दिया गया।

आश्रम की गोशाला आश्रम के साथ ही समान रूप से जुड़ी होने पर भी आश्रम के अंग अथवा आश्रम की ही प्रवृत्ति के रूप में नहीं थी, फिर भी आश्रम के ट्रस्टी के रूप में उसका भार स्वभावत ही अहमदाबाद के ट्रस्टियों पर आ पड़ा। ट्रस्टियों में से आश्रम की प्रत्यक्ष व्यवस्था का काम श्री नरहरि-भाई पारिख करते थे, इसलिए मेरे लिए ट्रस्टी पद कुछ खास बोझ नहीं था। कभी-कदास सलाह-मशविरा करना और मित्रों के पास भिक्षा की झोली फिराना, यही ट्रस्टी के रूप में मेरा मुख्य काम था।

: ३२ :

स्पंदनशील गांधीजी

१९३४ में गुजरात में सबकर पाला पड़ने से फसल को भारी नुकसान हुआ और इसलिए किसानों को राहत पहुंचाने लिए धन संग्रह का काम करने की आवश्यकता हो गई। इस विषय में मैंने अपने विचार गांधीजी को बताये। सरदार वल्लभभाई अहमदाबाद में नहीं थे। वह गांधीजी से मिलने-वाले थे। इस कारण मैंने गांधीजी को लिखा था कि सरदार से आप बात कर लीजिये। इस पर गांधीजी ने मुझे लिखा

"(सरदार से) मैं यह बात करूंगा, यदि भूल न गया तो। पैसों का तो तुम जैसा उचित समझो, वैसा करना। मैंने तो तुम्हारे पत्र के बाद अपने सिर से चिन्ता उतार फेंकी है।

"पाले से हुई हानि के लिए गुजरात सभा के पैसों में से अवश्य देना।

इसके वाद भी मेरी सम्मति की जरूरत समझो, तो मस्विदा भेज देना।"

गुजरात सभा ने १९१८ में इन्फ्लूएजा की बीमारी के फैलने पर लोगो को औषधि-सबधी सहायता देने का काम भारी पैमाने पर किया था। अहमदावाद मे सेठ भगुभाई की पोल मे एक औषधालय भी खोला था। गुजरात सभा की ओर से हुए कामो मे से यह एक बडा काम था। इस काम के लिए सभा ने धन एकत्र किया था और जो काम किया गया था, लोगो को कुल मिलाकर वह बडा सतोषप्रद प्रतीत हुआ था। उसके बाद १९१९ मे अकाल सकट निवारण के सबध मे भी गुजरात सभा ने अहमदाबाद जिले में वडे पैमाने पर काम किया था और वह भी उतना ही सतोषजनक था। इन दोनो अवसरो पर एकत्र धन मे से लगभग चालीस हजार की रकम शेप बच रही थी, उसमें से समय-समय बीमारी अथवा अकाल के समय आवश्यक रकम खर्च करते रहते थे। उस रकम मे से जो कुछ वाकी बच रही थी, उसीके लिए गाधीजी ने उपरोक्त पत्र में उल्लेख किया था।

अगस्त १९३५ मे मेरी पत्नी को टाइफाइड ज्वर हुआ। मैं तो एक छोटा सा सेवक था, तिस पर भी गाधीजी की अपने साथ के प्रत्येक सेवक के प्रति किस प्रकार की भावना थी और वह प्रत्येक पर कैसी नजर रखते थे, उसकी वानगी के रूप मे उनके नीचे दिये दो पत्र देखने योग्य हैं। यहा मैं यह भी बता दू कि मार्च १९२० में मेरी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद मुझे सात्वना देने के लिए गाधीजी अहमदावाद स्वय मेरे यहा पधारे थे। अपने छोटे-से-छोटे सहयोगी को अपने मे आत्मसात कर लेने की गाधीजी की कला का यह एक उदाहरण है। २६ अगस्त १९३५ के पोस्ट कार्ड में गाधीजी लिखते हैं

"मणिबहन का पत्र अभी मिला। उससे पता चला कि तुम्हारी पत्नी को मद टाइफाइड है। मैं आशा करता हू कि वह उतर गया होगा।"

उसके बाद १४ सितबर के पोस्ट कार्ड मे वह लिखते हैं

"तुम्हे जिस तरह गृहस्थी-सबधी परीक्षाओं में से निकलना पडता है, उसी तरह दूसरो को भी निकलना पडता है। हम इतना ही तो आश्वासन ले सकते हैं? किंतु अब तो सब कुछ ठीक हो गया होगा।"

किसी भी महान कार्य में मनुष्य एक-दूसरे से मिलकर, एक-हृदय होकर

और एकता से काम करते हैं। उसका रहस्य केवल आदर्श में ही नहीं, प्रत्युत एक-दूसरे के साथ के प्रेम-संबंध में है। कोई भी संस्था केवल नियमों के सहारे नहीं बन सकती, न टिक सकती है। मानव हृदयों से ही वह अभेद्य और महान बन सकती है। नियमोपनियम और संविधान आवश्यक होते हैं और उनकी सीमा भी होती है। समाज की प्रगति स्वय-विकास के लिए पारस्परिक भावनाओं का ध्यान रख, उनकी रक्षा का प्रयत्न करके हृदयों की एकता साधने से ही हमारी प्रगति हो सकती है। मेरी पत्नी की बीमारी के समय गांधीजी जैसा एक महान और अनेक कार्यों में व्यस्त व्यक्ति, समय निकाल-कर, छोटे ही सही, दो पत्र लिखकर अपनी सहानुभूति जताता है, इसीमें गांधीजी के प्रति हम सबके प्रेम और आकर्षण के बीज छिपे हैं।

सन १६३५ के अंतिम दिनों में भी ऐसा ही एक छोटा किंतु प्रेम और भावनापूर्ण, प्रसंग हुआ। सन १६२२ में श्री सोमनाथ भूदरदास नामक सज्जन से मेरा परिचय हुआ। घोर दरिद्रता से वह ठेकेदारी का धंधा करके लखपती बन गये थे और स्वय-उपार्जित धन का वह अनेक धर्मार्थ कार्यों में मुक्त-हस्त से उपयोग करते थे। अपने एक धर्मादा ट्रस्ट में उन्होंने मुझे एक ट्रस्टी के तौर पर लिया था।

शिक्षा के संबंध में, और उसमें भी विशेषकर स्त्री-शिक्षा के प्रति, उनका अगाध प्रेम था। बालिकाओं की शिक्षा बढ़े, यह उनकी इच्छा थी। सन १६३० में सविनय अवज्ञा आंदोलन पूरे जोरों पर था। सरकारी गर्ल्स हाई स्कूल की इमारत पर बालिकाओं ने राष्ट्रीय झंडा फहराया। उस समय वहां की कई अध्यापिकाओं ने उनके साथ पुलिस का-सा व्यवहार किया था। इसलिए श्रीमती विद्याबहन रमणभाई, श्रीमती सरलादेवी साराभाई और मैंने अपील की कि उस स्कूल का बहिष्कार करने के लिए बाहर निकली हुई बालिकाओं के लिए म्युनिसिपैलिटी को एक हाई स्कूल खोलने की व्यवस्था करनी चाहिए। उस हाई स्कूल के लिए म्युनिसिपैलिटी को मकान की आवश्यकता थी। इस कारण मैंने सेठ सोमनाथ भूदरदास ट्रस्ट से इस मकान के लिए धन की मांग की, जिस पर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक बालिका-शिक्षा के लिए एक सुविधाजनक शाला-भवन बनवाने के लिए लगभग छप्पन हजार रुपये देना स्वीकार कर लिया।

उस समय वृद्ध सोमनाथभाई ने (उनकी आयु उस समय लगभग ८० वर्ष की थी) इच्छा प्रदर्शित की कि मकान बन चुकने पर उसका उद्घाटन गाधीजी के हाथ से कराया जाय। गाधीजी का कार्य-विस्तार देखते हुए यह यद्यपि कठिन था, फिर भी मैंने एक अच्छे काम के लिए छप्पन हजार रुपयो का दान देने के लिए तैयार होनेवाले वृद्ध की तीव्र इच्छा का आदर करना उचित समझा और भवन का उद्घाटन करने आने की प्रार्थना करते हुए गाधीजी को पत्र लिखा। किंतु उद्घाटन का अवसर आने से पहले ही दुर्भाग्य से श्री सोमनाथभाई का स्वर्गवास हो गया। उस समय मैं म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष नही था, उपाध्यक्ष था। इस विषय मे गाधीजी ने मुझे २५ नवबर १९३५ को निम्नलिखित कार्ड लिखा .

"स्वागत समिति मे तुम तो हो ही। समिति से पूछकर मुझे उद्घाटन के लिए जिस तरह ले जाना हो, ले जाना। स्वर्गस्थ के कुटुबीजनो को मेरी ओर से सात्वना देना।"

कार्यकर्ताओ को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति और साथ ही अच्छे काम के लिए धन देनेवाले दाता के प्रति सद्भाव इस छोटे से कार्ड मे छलक रहा है। अहमदाबाद मे ३० अक्तूबर १९३६ को गाधीजी के हाथो उपरोक्त भवन का उद्घाटन समारभ हुआ। मेरी तो धारणा है कि इससे स्वर्ग मे दाता की आत्मा को अवश्य ही सतोष हुआ होगा।

: ३३ :

विधान सभा में प्रवेश

सन १९३७ के आरभ में प्रातीय विधान सभाओ के चुनाव हुए और मेरे मित्र स्वर्गीय बल्लूभाई ठाकुर और मैं विधान सभा मे चुने गये। बबई विधान सभा मे काग्रेस को नाम-मात्र का बहुमत मिला था। दूसरे अनेक प्रातो में भी काग्रेस का बहुमत था, और इसलिए सन १९३५ के भारत-शासन अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ इडिया एक्ट) के अतर्गत १ अप्रैल १९३७ से बननेवाली नई सरकारो में मत्री-पद स्वीकार किया जाय या नही, यह प्रश्न काग्रेस के सामने खडा हुआ। इस सबध में काग्रेस कार्य-

समिति और ब्रिटिश सरकार के बीच लबी चर्चाए होने के बाद अत मे आवश्यक आश्वासन और वचन मिलने पर काग्रेस कार्यसमिति ने मत्री-पद स्वीकार करने का निश्चय किया। तदनुसार १६ जुलाई १९३७ से काग्रेसी मत्रिमडल ने बबई सरकार का शासन-तत्र सभाल लिया। उसी मास मे पूना मे विधान सभा का अधिवेशन आरभ होने पर २१ जुलाई १९३७ को विधान सभा के अध्यक्ष-पद पर मेरा निर्वाचन हुआ। जब काग्रेस दल ने विधान सभा की बैठक में भाग लेने के लिए पूना के कौंसिल भवन मे एक जुलूस के रूप मे प्रवेश किया तो वह एक अपूर्व दृश्य था। आगे तिरगा राष्ट्रीय झडा फहरा रहा था और 'वदेमातरम्' 'महात्मा गाधी की जय' आदि जयघोष करते हुए सदस्य दो-दो की पक्ति में चल रहे थे। जिस मार्ग पर और जिस स्थान पर तिरंगे और उसी तरह 'वदेमातरम्' पर प्रतिबध था, उसी स्थान पर तिरगे झडे का राज्य स्थापित हो और राष्ट्रीय जयनाद हो, यह एक क्रातिकारी और किसीके भी हृदय को उत्फुल्ल करनेवाला दृश्य था।

पद स्वीकार करने के बाद मेरा कार्यक्षेत्र बहुत बदल गया। अहमदाबाद और गुजरात मे रहकर जनसेवा करने के बजाय मेरे लिए बबई और पूना रहना आवश्यक हो गया। उसी प्रकार म्युनिसिपल क्षेत्र छोडकर मुझे विधान सभा के क्षेत्र में जाना पडा। फिर भी म्युनिसिपल और शैक्षणिक क्षेत्र में, विशेषकर अहमदाबाद मे नव-स्थापित अहमदाबाद एजुकेशन सोसाइटी और उसके अतर्गत आरभ हुए कालेजो आदि के क्षेत्र में तथा दूसरे अनेक सार्वजनिक कार्यों मे मेरी अभिरुचि तो बनी ही रही और इन विविध क्षेत्रो में अपने से बनती थोडी-बहुत सेवा मैं करता रहा हू। मुझे यहा यह भी स्वीकार करना चाहिए कि विधान सभा के काम में मेरी एक कानून के जानकार के नाते तो रुचि अवश्य थी, किंतु मैंने विधान सभा के काम को अपने लिए आवश्यक स्वीकार नही किया। इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि यह काम महत्वपूर्ण और उपयोगी है। किंतु मेरे मंतव्य, स्वभाव और रुचि, इन सबका शैक्षणिक, सामाजिक और म्युनिसिपल कार्यो के प्रति अधिक आकर्षण है। इसलिए निजी कर्तव्य के रूप मे विधान सभा का काम मनोयोगपूर्वक और निष्ठा के साथ करते हुए भी उसमें मुझे बहुत आनद प्रतीत नही होता। विधान सभा मे बैठे-बैठे चर्चा और वाद-विवाद करने अथवा सुनने

की अपेक्षा कोई छोटा सा भी रचनात्मक कार्य करना मुझे अधिक प्रिय लगता है। किंतु अपने को प्रिय लगनेवाला काम करने का अवसर हर किसीको कहा मिलता है ? राष्ट्र की प्रगति के आयोजन मे जो काम अपने जिम्मे आ पडे, उसे एक सिपाही की तरह अपने से बने उतने उत्कृष्ट रूप मे किया जाय, केवल इसी एक विचार से मैं सन १९३७ से आज तक विधान सभा का काम करता रहा हू और साथ-ही-साथ दूसरे हो सकनेवाले रचनात्मक कामो मे यथा शक्ति रुचि ले रहा हू।

जुलाई १९३७ में विधान सभा का अधिवेशन आरभ होने के बाद मुझे अध्यक्ष के रूप मे स्वभावत. ही अनेक निर्णय देने पडे। ऐसे निर्णयो से सबधित एक विषय के बारे मे पूना के 'सर्वेंट ऑफ इडिया' मे एक आलोचना हुई थी। उसके समर्थन में 'हरिजन' में एक लेख आया। इससे मुझे अनुभव हुआ कि 'हरिजन' मे प्रकाशित लेख के कारण काग्रेसवालो को विधान सभा के कानून की मर्यादा मे रहते हुए काम करने में कितनी कठिनाइया है, यह बात मुझे गाधीजी को बतानी चाहिए। यह भी बताना चाहिए कि 'सर्वेंट ऑफ इडिया' की आलोचना किस प्रकार उचित नही है। तदनुसार मैंने एक सविस्तार पत्र गाधीजी को लिखा। गाधीजी ने तत्काल ही 'हरिजन' के अगले अक में सपादकीय टिप्पणी लिखकर स्पष्टीकरण किया। गाधीजी को किसी भी प्रश्न का दूसरा पक्ष मालूम होते ही अपना मत उचित दिशा में मोडने मे किसी प्रकार का सकोच नही होता था, यह घटना उसका एक उदाहरण है।

मैंने हरिजन आश्रम का ट्रस्टी बनते समय तीन वर्ष की अवधि बताई थी। उस अवधि के समाप्त होने का समय आ गया था और साथ ही विधान सभा के काम-काज के सबध में मुझे अहमदाबाद से बाहर रहना पडता था। इस कारण मैं हरिजन आश्रम के काम की ओर पहले की तरह ध्यान नही दे सकता था। अत मैंने उससे मुक्त होने की इच्छा गाधीजी को जताई। इसके उत्तर में गाधीजी ने अपने ११ अगस्त १९३७ के पत्र मे लिखा

"तुम्हारा पत्र मिला। वास्तव में तुम पर भारी जिम्मेदारी आ गई है। किंतु मेरा विश्वास है कि तुम उसे ठीक तरह से उठा सकोगे और अपने पद के अनुरूप सिद्ध होओगे।

"अभी हरिजन आश्रम के ट्रस्टी तो वने ही रहना। कदाचित्त भिक्षा मागने की तुम्हारी शक्ति बढेगी। मुझे जो उचित प्रतीत हो, वही मैं लिखा करू—यह तो उचित समझा जायगा। इसमे से तुम सव जितना सहन कर सको, उतना करो, मैं इससे अधिक की आशा कर ही कैसे सकता हू ?"

इस पत्र से यह निश्चित ही हो गया कि मुझे आश्रम का ट्रस्टी वने ही रहना चाहिए और उस सवध में जो कुछ हो सके, उतना करके सतोप मान लेना चाहिए। इस प्रकार हरिजन आश्रम के ट्रस्टी के रूप में मैं आज भी चला आ रहा हू। ईश्वर की कृपा से और मित्रो की सहायता से मेरी गाडी लुढकती जा रही है।

: ३४ :

कस्तूरबा निधि : मूल योजना

'भारत छोडो' आदोलन के सिलसिले मे मै ९ अगस्त १९४२ से १० मार्च १९४४ तक सावरमती जेल में नजरवद रहा। उस अवधि में हम सवके हृदयो को आघात पहुचानेवाली दो घटनाए हुई। एक १५ अगस्त १९४२ को भाई महादेव देसाई की अकल्पित, आकस्मिक, असामयिक मृत्यु, और दूसरी २२ फरवरी १९४४ को पूना के आगाखा महल में पूज्या कस्तूरवा का स्वर्गवास। किंतु इन घटनाओ से कितना ही दुख हो, पर यह कोई अपने हाथ की तो वात थी नही। अत मे तो सभी को मरना है ही, यही सृष्टि-क्रम है, इस तत्वज्ञान से मन को समझा लेने के सिवा हमारे पास और उपाय ही क्या है ?

मैं १० मार्च को जेल से छूटकर घर आया। उसके वाद थोडे ही समय मे स्वामी आनद कस्तूरवा राष्ट्रीय स्मारक निधि के सवध में मुझसे मिलने के लिए मेरे निवास स्थान पर आये और स्मारक निधि की योजना मुझे वताई। सव कोई अपनी-अपनी इच्छा और कल्पना के अनुसार कस्तूरवा राष्ट्रीय स्मारक वनायें, इसमें किसीको क्या आपत्ति हो सकती थी ? किंतु इस निधि के सवध भारत के सर्वदलीय नेताओ के हस्ताक्षरो से जो अपील

प्रकाशित हुई थी, उसमें निधि के द्वारा किये जानेवाले जो कार्य और उपयोग बताये गये थे, उन्हे देखते हुए मुझे ऐसा लगा कि इस निधि की कल्पना सुदर होते हुए भी मैं सामान्य और गरीब वर्ग के लोगो से इस निधि में धन देने की प्रार्थना नही कर सकता। निधि एकत्र करनेवालो की कल्पना यह थी कि पचहत्तर लाख रुपये की रकम इकट्ठी करके २ अक्तूबर १९४४ को गाधीजी की वर्षगाठ के दिन थैली के रूप में गाधीजी को अर्पित की जाय। यहा तक तो मैं इस विचार के साथ सर्वथा सहमत था, किंतु मुझे मुख्यत दो कठिनाइया प्रतीत होती थी, जो मैने स्वामी आनद से हुई चर्चा मे व्यक्त की थी

(१) गाधीजी २ अक्तूबर १९४४ को जेल से मुक्त न हो, या उनके उस समय के स्वास्थ्य को देखते हुए, यदि २ अक्तूबर के पहले ही उनका शरीरात हो जाय, तो बाद मे इस निधि का उपयोग किन उद्देश्यो के लिए और किसके द्वारा होगा ?

(२) निधि के लिए जो अपील प्रकाशित की गई थी, उसमे तो किये जानेवाले निश्चित कार्य और उद्देश्य बताकर उनकी पूर्ति के लिए एक ट्रस्टी-मडल भी चुनने की बात थी। इस ट्रस्टी-मडल में सभी देशभक्त और सद्‌मित्रो के होते हुए भी गाधीजी की पद्धति और विचारसरणी में श्रद्धापूर्वक विश्वास रखनेवाला कोई मुझको प्रतीत नही होता था। इसलिए इस धन का उपयोग गाधीजी के मार्ग से न होकर अच्छे, किंतु अन्य प्रकार के, कामो मे होनेवाला दीखता था। इस प्रकार आरभ से ही निधि का क्षेत्र निर्दिष्ट कर दिये जाने के कारण गाधीजी के नाम से इस निधि मे धन देने के लिए सामान्य और गरीब वर्ग को किस तरह आमन्त्रित किया जा सकता था ? सामान्य वर्ग के लोग तो गाधीजी के प्रति अपने प्रेम और श्रद्धा के वशीभूत होकर धन देते। 'हमने गाधीजी के चरणो मे भेंट अर्पित की, इतने से ही वे सतोष कर लेते, पर जिस प्रकार का कानूनी बधन लगाकर निधि एकत्रित की जानेवाली थी, उसमें केवल गाधीजी के अतिरिक्त गाधीजी की प्रणाली और गाधीजी के विचारो का क्या स्थान था ?

इसलिए इस निधि के लिए मैं सामान्य लोगो के पास जाकर चदे की

माग करना स्वीकार नही कर सकता था। स्वामी आनद की दलील यह थी कि और कुछ नही तो इस निधि के बहाने हम लोग गांव-गाव में जाकर और जनता तक पहुचकर गाधीजी और उनके तत्वज्ञान एवं कार्य-प्रणाली के सबध में उनसे बातचीत करके उनमें थोड़ी-बहुत जागृति तो पैदा कर ही सकेंगे। किंतु यह बात मेरे गले नही उतरी। फिर यह बात मुझे अधिक व्यावहारिक भी नही प्रतीत हुई, क्योंकि उस समय बहुत से काग्रेसी लोग जेल में थे। इसलिए कस्तूरबा निधि एकत्र करने का काम करने से मैंने इन्कार कर दिया।

ठक्कर बापा की यह खास इच्छा थी कि गुजरात में इस काम की जिम्मेदारी मैं अपने सिर लेकर इस राष्ट्रीय स्मारक के लिए कुछ चदा करने का प्रयत्न करू। इतना ही नही, १९१५ से मेरा उनके साथ जो पिता-पुत्रवत् सबध था, उसके कारण उनका आग्रह भी था। इसलिए अप्रैल १९१४ मे मैं जब बबई गया, तब बापा को एक पत्र लिखकर उसमे अपने मतभेद के कई मुद्दे बताते हुए मैंने लिखा कि यदि इन विषयो का कछ सतोपजनक स्पष्टीकरण या समाधान हो जाय, तो मैं निधि के लिए प्रयत्न कर सकूगा। मेरे मुद्दे निम्नलिखित थे .

(१) बापा ने निधि के लिए प्रस्तावित ट्रस्ट के दस्तावेज के मुद्दे के अश का ही मस्विदा मेरे पास भेजा था। उसमे बताया गया था कि निधि की रकम का व्याज ही खर्च किया जा सकेगा। इस विषय मे मेरा विरोध था। १९२१-२२ तक तो मैं भी यही मानता था कि सार्वजनिक कार्य के लिए सचित पूजी अलग रखकर उसके ब्याज का उपयोग करना ही उचित है, जिससे कि आगे चलकर धन के अभाव में कुछ रुकावट न आये। किंतु गाधीजी की विचार-प्रणाली जानकर ही नही, वरन उस प्रकार से काम करके वर्षो तक अनुभव करने के बाद मेरा विश्वास हो गया था कि व्यक्ति की तरह ही सस्था के लिए भी पूजी पर आसक्ति रखकर मर्यादित काम करने में आगे चलकर लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक रहती है। इसलिए सामयिक असुविधा के लिए थोड़ी पूजी भले ही रहे, किंतु स्थायी पूजी पर आधार रखकर काम कदापि नही करना चाहिए। जितना हो सके, काम करते जाना चाहिए और यदि अपना काम उचित दिशा में और जनता के लिए उपयोगी होगा, तो पैसो

की कभी कमी न रहेगी। लोग पैसे देते ही रहेगे। और यदि लोग पैसे न दें, तो यह समझकर कि हमारे काम मे कोई त्रुटि है, उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और नही तो काम समाप्त कर देना चाहिए। जिस काम मे लोगो का सक्रिय सहयोग नही मिल पाता, वह उनके हृदय में नही उतरता है, यह समझ लेना चाहिए और इस प्रकार जिसके लिए लोगो के हृदय में स्थान ही नही है, उसे चालू रखने का क्या अर्थ ? इस विचार सरणी का मैंने अपने सार्वजनिक जीवन में खूब अनुभव किया था। काम पैसा लाता है, पैसे से काम होता है, यह भी उतना ही सही है, किंतु काम मे पैसे का हिस्सा बहुत ही मर्यादित स्वरूप मे होता है। जितनी अनेक सार्वजनिक सस्थाओ से मैं सबधित हू, उनका अनुभव यही था कि जैसे-जैसे काम बढता गया, वैसे-ही-वैसे-पैसे भी मिलते गये। जो विशेष कठिनाई है वह एक ही है, और वह है सेवा भाव की, निष्काम कार्यकर्ता मिलने की। अपने इस प्रकार के विचारो के कारण कस्तूरबा स्मारक का काम निधि के ब्याज मे से ही करने का विचार मुझे मूलत ही गाधी-विचार-विरोधी प्रतीत होता था और इसीलिए मैं निधि की पूजी तथा ब्याज दोनो ही खर्च करने की छूट रखना चाहता था।

(२) निधि एकत्रित करनेवाले यदि उसके उद्देश्य पहले से ही निश्चित कर उनकी पूर्ति के लिए ट्रस्टी-मडल भी बना दें, तो फिर वह थैली गाधीजी को अर्पित करने का क्या उपयोग और उद्देश्य ? पैसे के उपयोग के सबध में कोई भी सलाह देने अथवा पद्धति निश्चित करने का गाधीजी के लिए कोई अवसर ही नही रह जाता था।

(३) मान लीजिये कि गाधीजी २ अक्तूबर १९४४ के पहले जेल मे नही छूटते अथवा इसमे पहले ही उनका देहावसान हो जाय, तो यह निश्चित ही था कि उसके बाद निधि का उपयोग निश्चित किये हुए उद्देश्य के लिए पूर्व निश्चित ट्रस्टी ही करते। ऐसी स्थिति मे जब तक गाधीजी की पद्धति से पैसो का उपयोग करना निश्चित न हो सके, तब तक सामान्य लोगो से पैसे कैसे मागे जा सकते हैं ? मेरे इस प्रश्न का श्री ठक्कर बापा के पास कोई समाधानकारक उत्तर नही था।

बापू को उनके जन्म दिवस पर निधि भेंट करना, और वह भी कस्तूरबा

के स्मारक के रूप में, यह विचार सुदर था और मुझे वह बहुत पसद भी आया था, परतु बापू और कस्तूरबा के नाम का उपयोग करके एकत्रित किये गये धन का बापू के प्रिय कामो मे उपयोग न हो, यह मुझे बिल्कुल पसद न था। इस परिस्थिति मे मैंने ठक्कर बापा को यह सुझाया .

(१) निधि के उद्देश्य मे केवल इतना ही बताया जाय कि गाधीजी की पचहत्तरवी वर्ष गाठ के दिन उन्हे पचहत्तर लाख की थैली अर्पित करने के लिए धन एकत्रित किया जाता है और उस थैली के अर्पित किये जाने की अवधि तक के लिए, अथवा गाधीजी जीवित न रहे तो उसका विनियोग निश्चित होने के समय तक के लिए, निधि की रक्षा के लिए एक छोटा ट्रस्टी-मडल चुना जाय।

(२) साथ ही यह भी बता दिया जाय कि २ अक्तूबर १९४४ को जेल मे अथवा जेल से बाहर यह थैली गाधीजी को अर्पित की जायगी और पैसे का विनियोग गाधीजी की सूचना के अनुसार किया जायगा। यदि २ अक्तूबर १९४४ को थैली अर्पित न हो सके, अथवा अर्पित होने के पहले या पीछे गाधीजी का देहावसान हो जाय, तो उस समय श्री किशोरलाल, श्री नरहरि-भाई, श्री विनोबाजी, श्री काकासाहब कालेलकर जैसे गाधीजी के अनुयायी और गाधी-तत्वज्ञान को समझनेवाले उनके तीन-चार साथियो का मडल उसी समय चुना जाय और यह मडल जिस प्रकार बताये, उसी तरह इस थैली की रकम का उपयोग किया जाय। ऐसा होने पर थैली के पैसो की गाधीजी की पद्धति से ही खर्च होनेकी निश्चित व्यवस्था हो जायगी और फिर प्रत्येक गरीब-अमीर से निधि के लिए माग की जा सकती है। मै अपनी यह बात ठक्कर बापा के गले न उतार सका और इसलिए मैंने गुजरात में इस निधि के लिए काम करने से इन्कार कर दिया। इन्कार करते हुए मुझे बडा दुख हुआ। ठक्कर बापा ने भी बहुत महसूस किया, किंतु यह प्रश्न दृष्टि-भेद का था और उसमें निजी भावनाओ के लिए कोई स्थान नही था।

: ३५ :

निधि की मूल योजना पर गांधीजी

इसके बाद ६ मई १९४४ को सरकार ने गाधीजी को आगाखा महल से अनपेक्षित और अनाचक रिहा कर दिया और इसलिए मेरी समस्याओ के हल हो सकने की स्थिति पैदा हो गई। श्री मुनशी और श्री ठक्कर बापा ७ मई १९४४ को पूना पहुचकर गाधीजी से मिले और गाधीजी ने ट्रस्टी-मडल का अध्यक्ष बनना स्वीकार कर लिया। इसका अर्थ मैं यह समझा था कि निधि के पैसो का उपयोग और व्यवस्था गाधीजी की इच्छानुसार की जायगी। उसके तुरत ही बाद गाधीजी जलवायु-परिवर्तन और स्वास्थ्य-सुधार के लिए जुहू आकर रहे। ठक्कर बापा के आग्रह के कारण मैंने कस्तूरबा निधि सबधी अपने विचार गाधीजी के सामने रखे। उस समय गाधीजी फिर पूना जानेवाले थे, अत उन्होने मुझे यहा आने के लिए कहा। मैंने उनसे कहा—"आप एक-दो दिन बबई हैं, अत मुझे पूना दौडाने की अपेक्षा क्या आप इसमें ही कुछ समय नही निकाल सकेंगे ?" उन्होने अपने स्वाभाविक विनोद से हसते-हसते मुझसे कहा—"तुम्हारा लडका[1] पूना मे है न ? उससे मिलने पूना आना और फिर मुझसे भी मिलना।" ऐसी दशा में पूना जाने के सिवाय और कोई चारा ही नही था।

इसलिए मैं १६ जून १९४४ को पूना गया। स्वामी आनंद मेरे साथ थे। ठक्कर बापा के साथ अपने मतभेद के मुद्दो पर मैंने गाधीजी से चर्चा की। ये मुद्दे मै ऊपर बता चुका हू। चर्चा आगे बढने पर गाधीजी ने बताया कि उन्होने स्वय श्री घनश्यामदास बिडला को निम्नलिखित स्पष्टीकरण दिया था :

(१) निधि-सबधी अपील पर हस्ताक्षर करनेवालो मे बहुत से ऐसी स्थिति के और सपन्न लोग हैं कि यह मान लेना चाहिए कि उन्होने, जिस

---

[1] मेरा ज्येष्ठ पुत्र बालकृष्ण उस समय पूना में डा० दिनशा मेहता के प्राकृतिक चिकित्सालय में था।

तरह वे कोई भी नई व्यापारिक कपनी खड़ी करते समय किया करते हैं, स्वय ही सारी रकम की गारटी की (Underwrite) है। इस रकम को पूरी करने में ही उनकी प्रतिष्ठा है।

(२) हस्ताक्षर करनेवालो को निधि के उद्देश्य निश्चित करने तथा उसके लेन-देन की व्यवस्था करने की पूरी छूट है, और ये उद्देश्य और व्यवस्था जिन्हे स्वीकार हो, वे निधि में पैसे दे सकते हैं।

इसपर मैंने गांधीजी से पूछा—"गुजरात में इस निधि के लिए मैं किस प्रकार काम करु ?" उत्तर में गाधीजी ने कहा—"तुम पैसेवालो के भी प्रतिनिधि हो सकते हो और उनको निधि में पैसे देने के लिए समझा सकते हो, किंतु सामान्य जनता से पैसे देने की अपील तुम नही कर सकते। मुझे तो निधि की समग्र योजना यही प्रतीत होती है कि थोडे से धनिक लोग मिलकर निश्चित रकम पूरी कर दें। सामान्य जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली सस्था ही आम लोगों से पैसे इकट्ठे कर सकती है।" ट्रस्टी-मडल के संबध मे गाधीजी ने बताया—"मैंने श्रीमती विजयलक्ष्मी पडित जैसे कतिपय सार्वजनिक कार्यकर्ताओ का ट्रस्टी-मडल में समावेश करने की सलाह दी है।"

इस मुलाकात के बाद मैं बबई वापस आया और इसलिए कि किसी प्रकार की गलत-फहमी की गुजाइश न रहे, मैंने गाधीजी के साथ जो बातचीत हुई थी, उसका सार लिखकर प्यारेलालजी के पास इस आशा से भेज दिया कि उसमे भूल-चूक हो तो उसे सुधार दें। उसपर से गाधीजी ने मुझे २१ जून १९४४ को निम्नलिखित पत्र लिखा :

"तुम्हारे भेजे हुए पर्चे को प्यारेलाल समझ सकने की स्थिति मे नही था। अपनी बातचीत में उस हद तक उसका ध्यान नही था। फिर इस विषय में उसने हाथ भी नही लगाया। इसलिए मैंने ही इसमें जो उचित प्रतीत हुआ वह कर दिया है। बढ़ा भी सकता था, किंतु तुम्हारे लिए इतना ही पर्याप्त है। यदि कही अधिक प्रकाश की आवश्यकता हो, तो पूछ लेना—मैं तुरत ही स्पष्टीकरण कर दूगा। कस्तूरबा निधि के सबध में तुम्हारे दो प्रश्न दूसरी तरह बनाये जा सकते थे। उन्हें नही छुआ है। मुझे समय बचाना था। कापीराइट के सबध में जो थोडा सा हेर-फेर किया है, वह

समझ सकने योग्य है।"

इस चर्चा मे नवजीवन ट्रस्ट के कापीराइट के सबध मे श्री प्रभु, थैकर एड कपनी तथा ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस के साथ १९४३ से (जब मैं और नरहरिभाई जेल मे थे, वहा से और तब से ही) जो मतभेद थे और पत्र-व्यवहार हुआ, उस सबध में भी बातचीत हुई थी। ऊपर के पत्र मे उस विषय का भी उल्लेख है। कापीराइट के विषय मे अन्य स्थल पर लिखा है, इस कारण यहा उसके विस्तार में नही जाता।

गाधीजी के इस पत्र से यह तो स्पष्ट हो गया कि निधि की उस समय (जून १९४४) की परिस्थिति मे मेरा जो मत था कि मैं सामान्य जनता से पैसा इकट्ठा करने में कुछ भी नही कर सकता, वह उचित ही था और उसे गाधीजी का भी समर्थन मिल गया था।

: ३६ :

निधि का नया स्वरूप

श्री ठक्कर बापा इस बात के लिए बडे आतुर थे कि गुजरात मे कस्तूरबा निधि के सग्रह का काम शुरू हो और उसमे अच्छी-खासी रकम जमा हो। गाधीजी के साथ मेरी भेंट होने के बाद उन्होने २५ जून १९४४ को मुझे निम्नलिखित पत्र लिखा

"तुम और स्वामी बापू से पूना में मिल आये थे। तुमने उस विषय में आपस में विचारो की सफाई भी कर ली थी। दो दिन बाद जब मैं मिलने गया, तो बापू कहते थे कि मैंने मावलकर को सूचित किया है कि अहमदाबाद के मिल-मालिको से जितनी सभव हो सके उतनी रकम प्राप्त करो। मैंने कहा कि इसका अर्थ यह होता है कि मावलकर जन-साधारण से पैसा लेने नही जायेंगे, तो वह बोले कि उस मतलब से मैंने उनको कुछ कहा ही नही। अस्तु!

"किंतु अब मिल-मालिको में प्रयत्न करना आरभ कर दिया होगा। तुम्हारी ओर से इस प्रकार से लिखकर आयेगा तो मुझे सतोष होगा।

"अभी तक गुजरात से एक पाई भी नही आई, न घोषित ही हुई है,

यह दुख किसीसे कहा नही जाता—तुम अपने ही आदमी हो, इसलिए तुमसे क्या छिपाना ? कस्तूरबा निधि मे दूसरे प्रात पैसे देंगे और गुजरात देखता रहेगा ? किंतु मुझे ऐसा लगता है कि थोडे ही दिनो मे यह स्थिति बदल जायगी।

"दो सतरें लिख भेजोगे तो मेरा उद्विग्न मन शात हो जायगा। सेठ कस्तूरभाई को समझाओ, और यदि वह समझ गये तो गुजरात की लाज बचेगी। अधिक क्या लिखू ?"

ठक्कर बापा के इस पत्र से उनके मन की व्यथा स्पष्ट प्रकट होती थी।

गाधीजी के साथ १६ जून को मेरी जो मुलाकात हुई थी, उसका हाल मैं पहले बता चुका हू। गाधीजी के साथ हुई बातचीत का सार मैंने लिखकर उन्हें बता दिया था, यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। गांधीजी ने मुझे जन-साधारण के पास जाने की मनाही नही की थी। किंतु निधि की उस समय की परिस्थिति में मैं सामान्य जनता के पास जा नही सकता, मेरे इस विचार से गाधीजी पूरी तरह सहमत थे, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं।

किंतु यह स्थिति अधिक समय नही रही। इसके बाद कुछ ही समय में सेठ अबालाल साराभाई और उसी तरह दूसरे कई प्रतिष्ठित लोग निधि के सबध मे गाधीजी से चर्चा करने के लिए पूना में मिले। उस समय पारस्परिक चर्चा के बीच निम्नलिखित बातें निश्चित हुईं.

(१) जब तक गाधीजी जीवित है, तब तक ट्रस्ट के अध्यक्ष के रूप में गाधीजी ही चुने जायगे।

(२) गाधीजी जिस योजना को स्वीकार न करें, ऐसी किसी योजना पर ट्रस्टी लोग अमल नही कर सकेंगे।

(३) निधि की अपील में लिखे हुए ट्रस्टी-मडल के अलावा गाधीजी दूसरे दस ट्रस्टी और चुनेंगे।

ठक्कर बापा के उपर्युक्त पत्र का उत्तर देने में मुझे थोडा विलब हो गया। इसी बीच गाधीजी ने 'नवजीवन' के कापीराइट के प्रश्न के सबध में पंचगनी से ५ जुलाई १९४४ को एक पत्र मे लिखा

"कस्तूरबा-स्मारक के सबध में जो-कुछ हुआ है, उसपर कोई सूचना

या टीका करने जैसा हो तो कहना। दस ट्रस्टियो के विषय मे कुछ कहोगे ?"

मैंने इस पत्र के उत्तर मे १० जुलाई १९४४ को गाधीजी को अपनी ये सूचनाए दी

"मैं चाहता हू कि बा-स्मारक के विषय मे आप मार्ग दर्शन करे और पैसे आपके वताये तरीके से खर्च हो, पैसे जहा से इकट्ठे किये जाय, यथा सभव वही खर्च किये जाय। रकम के लेन-देन के सवध में केंद्रीय मडल हिसाव की जाच आदि विषयक आवश्यक कार्रवाई करे, किंतु स्थानीय स्मारक का स्वरूप और उसका नित्य-प्रति का लेन-देन स्थानीय मडल के हाथ में रहे।"

नये दस ट्रस्टियो के विषय मे मैंने निम्नलिखित सुझाव दिये

"सरदार पटेल, प० जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राजेंद्रप्रसाद, विनोवाजी, किशोरलालभाई, शकरराव देव, वीमेन्स युनिवर्सिटी-वाले अन्ना साहव कर्वे (अथवा उनका सुझाया हुआ महिलाओ के काम मे दिलचस्पी लेनेवाला कोई दूसरा व्यक्ति), साथ ही राजकुमारी अमृतकौर तथा सुश्री रामेश्वरी नेहरू जैसी महिला कार्यकर्ता हो, तो अच्छा। इन ट्रस्टियो मे श्रीमती सरोजनी देवी तथा श्री विडलाजी के सिवा वगाल एव पजाब का कोई भी नही मालूम होता, यह वात भी विचारणीय है। किसी नाम-विशेष के लिए मेरा आग्रह नही है, किंतु हमारे मन में स्त्रियो की सेवा की जो रूप-रेखा वनी हुई है, उसका उपयुक्त रीति से अनुसरण कर सकने योग्य व्यक्ति होने चाहिए, इतना ही कह सकता हू।"

मैंने यह पत्र श्री नरहरिभाई के साथ सलाह करके लिखा था।

इस पत्र-व्यवहार के कारण पूज्य ठक्कर वापा को पत्र लिखने में जरा देर हो गई। इसलिए वापा ने मुझे ८ जुलाई १९४४ को निम्नलिखित कार्ड लिखा

"तुम्हारे उत्तर की वहुत दिनो तक प्रतीक्षा की, किंतु मिला नही। अस्तु। तुम्हारा लक्ष्मीदास श्रीकात को २ तारीख का लिखा कार्ड मैंने पढा।

"अहमदावाद के साथ ही गुजरात के काम के सवध मे तुम्हें जैसा उचित लगे, करना। कोई भी यह तो आशा नही करता कि तुम घर-घर फिरो, केवल सवको वुलाकर प्रोत्साहित करो और काम का विभाजन करो, इतना

ही पर्याप्त है। अब मैं तो दो महीने के लिए आज उत्तर की ओर (बंबई से) जा रहा हू। यहा का दफ्तर स्वामी के पास है। मुझे संतोष मिले, ऐसी कोई बात लिखने योग्य हो, तो हरिजन सेवक सघ, किंग्सवे, दिल्ली, के पते पर लिखना।"

कस्तूरबा निधि-सबधी उपर्युक्त निर्णयो मे मै जिस प्रकार की व्यवस्था चाहता था, वह हो गई थी। मेरी आपत्तियों का समाधान हो गया था, इसलिए यद्यपि उस समय मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था, फिर भी मैंने निधि के लिए समिति बनाकर गुजरात से धन सग्रह की व्यवस्था करने का भार अपने ऊपर ले लिया। इस काम में मुझे भाई गुलामरसूल कुरेशी, भाई परीक्षितलाल मजूमदार, श्री रमणीकलाल मोदी तथा बोचासण से विशेषकर इसी काम के लिए आये हुए आचार्य श्री शिवाभाई पटेल की मदद मिली। प्रेमाभाई हाल में गुजरात शिक्षण सभा (गुजरात एजुकेशन सोसाइटी) के अध्यक्ष की हैसियत से मेरा दफ्तर था। वही मैंने कस्तूरबा निधि का दफ्तर खोलकर निधि की व्यवस्था का कार्य आरभ कर दिया। निधि के उद्देश्य आदि की जानकारी करानेवाले परिपत्र निकाले। गुजरात भर में अनेक निजी पत्र लिखे और गुजरात के प्रत्येक जिले में एक-एक प्रतिनिधि नियुक्त किया। उस समय बहुत से काग्रेसी मित्र जेल में थे, इसलिए निधि के लिए समिति स्थापित करना आवश्यक हो गया था।

इसमें बडौदा राज्य और सौराष्ट्र के किसी एक प्रतिनिधि का भी समावेश नही किया जा सका था, इसलिए उन भागो के लिए उनकी स्वतत्र समितिया स्थापित की गई थी।

ईश्वर की कृपा से यह काम कल्पना से भी अधिक अच्छी तरह हुआ। अहमदाबाद में खास और विशेष उत्साह से सहायता करनेवालो में मुझे सेठ कस्तूरभाई लालभाई का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहिए। व्यापारिक समाज के इनके क्षेत्र से अच्छी मात्रा में निधि एकत्र हो सकी थी। सूरत में श्री कानजीभाई देसाई ने खूब परिश्रम किया था। खेडा जिले में श्री बाबूभाई पटेल ने बड़ी महनत की थी। इन निधि के काम के लिए मैं गुजरात में सूरत, नाडियाद आदि स्थानों में घूम आया था और कार्यकर्ताओं से मिलकर निधि का काम आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया था। निधि का

कार्य आरभ हुआ, इसी बीच काग्रेसियो की जेल से रिहाई शुरू हो गई। उनका भी सहयोग मिलने लगा और इस प्रकार वडौदा और सौराष्ट्र के अतिरिक्त गुजरात से लगभग साढे वारह लाख की रकम इकट्ठी हुई, जिसमे से अकेले अहमदावाद शहर का भाग कोई साढे नौ लाख का था।

: ३७ :

ट्रस्ट-संबंधी समितियों का निर्माण

कस्तूरवा-निधि की थैली गाधीजी को अर्पित करने से पहले इस निधि की व्यवस्था के लिए प्रत्येक प्रात (इकाई) की समितिया चुनने के सवध मे श्री ठक्कर वापा का एक परिपत्र आया। उसमें समिति के सदस्यो की सख्या दस रखने का सुझाव दिया गया था। इसका अर्थ मेरी मान्यता के अनुसार यह था कि इस सख्या मे घट-वढ हो सकती थी, किंतु वह एक सीमा तक ही। दस के वारह हो जाय, किंतु उससे अधिक नही, और व्यवस्था की दृष्टि से अधिक सख्या होनी भी नही चाहिए। इसलिए मैंने गुजरात के भिन्न-भिन्न पाच जिलो से निधि में आई रकम का ध्यान रखकर समिति के दस नाम पूरे करने का विचार किया।

मैं समझता था कि धन-सग्रह का काम पूरा करने के वाद मेरा काम समाप्त हो जाता है। मेरा विचार था कि प्रातीय काग्रेस के अध्यक्ष श्री कानजीभाई ही इस समिति के अध्यक्ष होने चाहिए। मैंने इस विषय मे श्री कानजीभाई को यही बात लिखी भी थी। उन्होने मुझे उत्तर देते हुए लिखा कि क्योकि धन-सग्रह का श्रम मैने ही किया था, इसलिए इस समिति का अध्यक्ष तो मुझे ही होना चाहिए। मैंने उन्हे वताया कि मैं उनका सुझाव स्वीकार कर नही सकता, क्योकि धन-सग्रह का काम एक प्रकार का था, जबकि उसके उपयोग का काम दूसरे प्रकार का—रचनात्मक—था। फिर वह गुजरात के सब भागो मे घूमने का काम कर सकते थे, जव-कि मैं अहमदावाद में एक प्रकार से स्थायी-सा रहता था। इस कारण मेरी मान्यता थी कि मेरी अपेक्षा प्रातीय काग्रेस के अध्यक्ष यह काम अच्छी तरह कर सकेंगे। मैंने अपनी यह सलाह ठक्कर वापा को भी लिख भेजी। इसने

पहले मैंने इन विषय में निधि संग्रह करनेवाले प्रतिनिधियों की भी सलाह ले ली थी।

मेरा मत था कि ये समितियां किसी भी राजनैतिक उद्देश्य से नहीं बनाई जानी चाहिए और बापा के परिपत्र से इनकी पुष्टि होती थी। मेरा और बापा का तथा गांधीजी का भी यही मानना था कि यह काम स्त्रियों की उन्नति के लिए और गांवों में किया जानेवाला है इसलिए उसमें राजनीति के लिए कोई स्थान नहीं है। मैं केवल यही चाहता था कि समिति में जिन लोगों को लिया जाय, वे सच्चरित्र, सेवा भावी और प्रतिष्ठित हों। कांग्रेसी हों तो अच्छा है। किंतु निधि में सभी वर्गों ने दान दिया था, इसलिए उसकी व्यवस्था केवल कांग्रेसियों की सलाह से ही और उन्हींके हाथों हो, यह राजनैतिक दृष्टि से भी मैं अवांछनीय मानता था।

अपने इन विचारों के कारण मेरी यह मान्यता थी कि गुजरात की दस सदस्यों की समिति सर्वदलीय अथवा सर्वथा निर्दलीय होनी चाहिए और इस उद्देश्य से जब नाडियाद में मुझसे पूछा गया कि इस समिति में क्या मुस्लिम लीगवाले भी लिये जा सकते हैं, तो मैंने उत्तर में कहा कि "यदि सेवा भावी एवं सच्चरित्र मुसलमान हों और उसने निधि में थोड़ा-बहुत भी दान दिया हो, तो उसे समिति से बाहर क्यों रखा जाय? यदि हम सामाजिक और सेवा के कार्यों में भी पक्ष-विपक्ष की दृष्टि से विचार करेंगे, तो हम अपने देश का संगठन नहीं कर सकेंगे; और इसलिए मुझे मुस्लिम लीगवालों को भी लेने में आपत्ति नहीं मालूम होती, क्योंकि इस काम में किसी प्रकार की राजनीति नहीं है और न होनी चाहिए।"

मैंने अपने ये विचार चर्चा और बातचीत में सब छोटे-बड़े कांग्रेसी मित्रों को स्पष्ट रूप में बता दिये थे। मुझे याद नहीं कि किसीने भी इनका विरोध किया हो। इतने पर भी इसके बाद मैंने देखा कि कतिपय कांग्रेसियों का मेरे विचारों से विरोध था और वे यह चाहते थे कि इस निधि का समूचा तंत्र बिल्कुल कांग्रेसियों के ही हाथ में रहे। लेकिन उस समय मुझे उनके इन विचारों की कोई जानकारी नहीं थी।

इसके कुछ समय बाद ही जिन दस ट्रस्टियों को गांधीजी लेना चाहते थे, उनके नाम घोषित हुए। इसे पढ़कर मैं तो आश्चर्यचकित ही रह गया।

गाधीजी ने न तो मुझसे यह पूछा कि मैं ट्रस्टी बनने के लिए तैयार हू या नही, न मुझे यह सूचना ही दी कि वह मुझे ट्रस्टी बनाना चाहते हैं, लेकिन उन्होने मुझे ट्रस्टी ही नही बनाया बल्कि मुझे ट्रस्ट की कार्यकारिणी तक मे रख लिया! गाधीजी का यह विश्वास और प्रेम मेरे लिए एक प्रकार से तो गौरव की वस्तु था, किंतु इसी कारण से मुझे इसी ट्रस्टी-पद के प्रति विशेष उत्तरदायित्व का भी अनुभव होने लगा।

आरभ मे तो इस निधि की थैली पचहत्तर लाख की निर्धारित की गई थी, किंतु वह आशा से काफी अधिक बढ गई थी। २ अक्तूबर १९४४ को सेवाग्राम मे गाधीजी को थैली अर्पित करने की विधि सपन्न होनेवाली थी। पूज्य ठक्कर बापा ने मुझे उस प्रसग पर वर्धा उपस्थित रहने के लिए अत्यत आग्रहपूर्वक लिखा था। स्वय मेरी भी इस अवसर पर उपस्थित रहने की प्रबल इच्छा थी। किंतु मैं अहमदाबाद के कामो मे इतना फसा हुआ था कि मेरे लिए वहा जा सकना सभव नही था। इसलिए मैंने बापा को एक सविस्तार पत्र लिखकर अपने न आ सकने के लिए क्षमा मागी। उस पर गाधीजी ने मुझे २४ सितबर १९४४ को बबई से निम्नलिखित सक्षिप्त-सा कार्ड लिखा

"बापा के नाम का तुम्हारा पत्र देखा। जरा भी सभव हो सके तो दूसरी को वर्धा आना।"

थैली समर्पित करने के समारभ मे तो मैं सम्मिलित नही हो सका, किंतु उसके बाद नवबर के आरभ मे ट्रस्टी-मडल की प्रथम बैठक में सम्मिलित होने सेवाग्राम गया था। इस बैठक मे ट्रस्ट के अतर्गत होनेवाले कार्यो की व्यवस्था का प्रारभिक काम होनेवाला था, इसलिए मैने गुजरात के कार्यकर्ता मित्रो से प्रार्थना की कि वे सेवाग्राम के लिए मेरे प्रस्थान से पहले अथवा ४ तारीख को होनेवाली बैठक से पहले तक सेवाग्राम मे अपनी सूचनाए मेरे पास भेज दें। बैठक के एक दिन पहले मैं सेवाग्राम पहुचा तो श्री कानजी-भाई का एक तार मुझे मिला। उसका आशय यह था कि कस्तूरबा ट्रस्ट के काम की व्यवस्था जिस प्रकार हुई थी, उससे गुजरात के कार्यकर्ताओ को लगता है कि उनकी उपेक्षा की गई है। इस विषय मे एक अलग पत्र भेजे जाने का भी उसमे उल्लेख था।

यह तार देखकर मैं आश्चर्यचकित रह गया। गुजरात के कार्यकर्ताओ

का मतभेद होने की बात मैं समझ सकता था, किंतु उनकी उपेक्षा किसने, कब और किस तरह की अथवा हुई, यह मेरी समझ मे नही आया। मैंने यह तार सीधा गाधीजी के हाथ मे थमा दिया। उसे देखकर वह जरा मुस्कराये और इस तार के पीछे कौन होगा, इस विषय का अपना अनुमान मुझे बताया। मैं कुछ भी नही बोला।

दूसरे दिन कानजीभाई का पत्र मिला। उससे पता चला कि बडौदा में काग्रेसियो की एक बैठक हुई थी। उसमे इस विषय पर चर्चा हुई थी। इस पत्र का आशय यह था कि इस निधि के साथ काग्रेसियो का कोई सबध या अधिकार नही, किंतु बापूजी के काम के रूप में उसमें उनका अनुराग है और इसलिए वे उसमें योग देना चाहते हैं। किंतु समितियो के गठन का कार्य जिस प्रकार हो रहा है, उसमें काग्रेसियो की उपेक्षा की जा रही है और इसलिए यदि यही क्रम चलता रहा, तो कस्तूरबा निधि के कार्य में काग्रेसियो का सहयोग प्राप्त करना कठिन हो जायगा।

यह पत्र भी मैंने गाधीजी के हाथ में रख दिया और कहा कि जिस उपेक्षा के विषय में लिखा गया है, मैं उस सबध मे कुछ नही जानता। इस पर गाधीजी ने मुझसे कहा—"श्री कानजीभाई को समझाओ कि इसमें किसी भी प्रकार की पक्षा-पक्षी नही है और समिति के गठन के सबध मे किसीको भी कुछ भी विवाद करने की आवश्यकता नही है।" इसके उत्तर में मैंने केवल इतना ही कहा—"मुझमें इतनी शक्ति नही है कि मैं यह बात काग्रेसियों को समझा सकू। मुझे काग्रेसियो के साथ हुई बातचीत में इस बात का जरा भी आभास नही हुआ था कि उनमें से किसीकी भी उपेक्षा हो रही है। मैं समझ नही सकता कि उनके मन में यह विचार किस प्रकार पैदा हुआ। इसलिए आप स्वय ही कानजीभाई को आप जो उचित समझें कहे, अथवा लिख सकते है।" इस पर गाधीजी ने २ दिसबर १९४४ को कानजीभाई को एक पत्र लिखा और जानकारी के लिए उसकी एक नकल मेरे पास भेज दी।

कानजीभाई का तार और पत्र जिस समय मिला था, उस समय श्री मंगलदास पकवासा भी ट्रस्टी-मडल की बैठक के लिए सेवाग्राम में मौजूद थे। गांधीजी ने श्री कानजीभाई को लिखा.

"भाई मगलदास के साथ सब बातें हुई हैं, वह तुम्हे बतायेंगे। मुख्य बात

यह है कि यदि काग्रेस के भाई-बहनो को असतोष हो, तो मैं तुम्हारे ही साथ अध्यक्ष के रूप मे, अथवा जो अध्यक्ष चुना जाय उसके साथ, काग्रेस के कार्य के सबध मे पत्र-व्यवहार करूगा। मैंने मावलकर दादा को अपने से जुदा नही माना है। कस्तूरबा निधि के खर्च के सबध मे जो समिति बनानी हो, बनाओ। जो नियम बनाये गये हैं, वे निधि के सरक्षण की दृष्टि से बनाये गये हैं। उद्देश्य केवल धारणा के अनुसार पैसे खर्च करने का है। इस निधि मे सभी दल अथवा यो कहो कि कोई भी दल नही है। जिस व्यक्ति को जो कुछ देना था, अपनी ओर से दिया है। इसलिए इस विषय मे जो समिति बनाई जाय, उसमे सभी रग के लोग हो, इसीमे हमारी शोभा है। वस्तुत देखा जाय, तो जो कोई भी चुना जाय, वह भारत की ग्रामीण बहनो का स्वयभू प्रतिनिधि अथवा सेवक होना चाहिए। सब काम इसी दृष्टि से होगा तभी शोभा देगा, और इस एक करोड रुपये का ग्रामीण बहनो के लिए सदुपयोग कर सकेंगे। इसमें गरीब और अथवा काग्रेसी-गैर-काग्रेसी के बीच किसी प्रकार के द्वेष भाव के लिए कोई स्थान नही है। मेरी आशा तो यह है कि काग्रेस की नीति माननेवाले के मन मे किसीके प्रति द्वेष नही होना चाहिए। हमारे सब काम प्रेम और सत्य पर आधारित होने चाहिए।

"यह पत्र सब भाई-बहनो को पढकर सुना सकते हैं। यही मेरी इच्छा है कि कही भी सताप न हो।"

१९४४ से पहले से ही कुछ समय से मैं यह देख रहा था कि गुजरात के प्रमुख काग्रेसियो और मेरे बीच तात्विक मतभेद बढते जा रहे हैं। ये मतभेद क्या थे और उनमे किसका दोष था, इस चर्चा मे पडने की आवश्यकता नही। मैं यह मानता हू कि वाछित परिणाम लाने की खातिर भी हमे तत्वनिष्ठा नही छोडनी चाहिए। कई प्रसग हमारी तत्वनिष्ठा की कसौटी-स्वरूप होते हैं। सत्य और सेवा के आधार पर किसी भी कीमत पर टिके रहने मे ही काग्रेस के प्रति हमारी सच्ची निष्ठा है। ऐसा करने में अनेक बाधाए आ सकती हैं, सभव है राजनैतिक सत्ता तत्काल प्राप्त न भी की जा सके, म्युनिसिपैलिटी और विधान सभा जैसी सस्थाओ मे बहुमत न भी प्राप्त किया जा सके, किंतु ये सब तो साधन हैं, साध्य तो लोक-कल्याण है, और उसको साधने में साधनो की शुद्धि आवश्यक है, यह मैं निश्चित

मानता हू।

अपनी इस स्थिति मे कस्तूरबा ट्रस्ट की समितियो-संबंधी इस छोटी सी समझी जानेवाली घटना ने मुझ पर खासतौर से गहरी छाप डाली और राजनैतिक तथा उसके साथ जुड़ी हुई खटपटो में पडने की अपेक्षा उनमें से खिसक जाना और अपने से जितनी बन पडे उतनी सेवा शांति से करना आदि विचार सेवाग्राम के उस चार दिन के निवास में मेरे मन में और जोर करने लगे। इसीको लेकर मैंने ६ नवबर को इस विषय में गांधीजी से बात की और अपनी व्यग्रता उन पर प्रकट की। वह उनका मौन का दिन था, इस कारण मैं अपना सारा कथन विस्तारपूर्वक उनसे कहकर, अपना हृदय और अपनी व्यथा उनके सामने उंडेल सका।

मेरे कथन का सार यह था कि सार्वजनिक जीवन मे सदाचार के लिए आवश्यक स्थान रह नही गया है; अनेक प्रकार की सांठ-गांठ होती रहती हैं, सत्य और सेवा भाव को ढूढने के लिए जाना पडता है, और इसलिए इन कारणो से कई बार मेरे मन में सार्वजनिक जीवन से अलग हो जाने की इच्छा होती है। गांधीजी ने इस सबंध में मुझे एक कागज पर यह लिखकर अपना उत्तर दिया :

"तुमने अंतिम बात (अलग हो जाने की) कही, यह स्वर्ण मार्ग है। अच्छे मनुष्यों को सभी जगह अलग हो जाने के मौके आ सकते हैं और न आयें तो भी भले आदमी तो अलिप्त ही रहते हैं। इसीका नाम अहिंसक असहयोग है।"

: ३८ :

यात्रा किस प्रकार ?

कस्तूरबा निधि के संबंध में बनाये जानेवाले ट्रस्ट के उद्देश्यो और व्यवस्था-विषयक नियमो का आलेख (ट्रस्ट-डीड) बनाया गया, किंतु उनके बनाते समय इस बात का पूरा ध्यान नहीं था कि व्यवस्था किस प्रकार की जायगी और इसलिए ट्रस्ट-डीड से ट्रस्टियो को मिले अधिकारों के आधार पर इस प्रकार के नियम बनाने की आवश्यकता थी जिससे कि व्यवस्था में

सरलता हो। इन नियमो के बनाने का काम तत्वत तो एक समिति को सौंपा गया था, किंतु मुख्यत उसका भार मुझपर ही आ पडा था। यथा-सभव कानूनी दाव-पेंचो को बचाकर ये नियम इस प्रकार बनाने थे जिससे कि व्यवहार मे सरलता हो। मैंने, कानून के कतिपय आशयो के साथ सहमत न होते हुए भी, उनका सम्मान करने की दृष्टि से कई जगह समझौता करके नियमो का मस्विदा पूरा किया।

ट्रस्ट के अध्यक्ष के नाते गाधीजी उस मस्विदे को देख जाय, यह आवश्यक था। इन नियमो मे ट्रस्टियो तथा ट्रस्ट के कर्मचारियो के लिए यात्रा-सबधी आवश्यक नियम भी थे। रेलगाडी मे होनेवाली भीड को तथा इस बात को, कि सभी कार्यकर्ताओ अथवा ट्रस्टियो के लिए तीसरे दर्जे की यात्रा मे आनेवाली मुसीबते और परेशानिया सहना सभव न होगा, ध्यान मे रखकर मैंने अपने मस्विदे मे सफर के लिए दूसरे दर्जे का रेल-किराया दिये जाने की व्यवस्था की थी। इस नियम के सबध में गाधीजी का मत मुझसे तथा ट्रस्ट के कार्यालय-मत्री श्री श्यामलाल से भिन्न था। इस कारण हमने मई १९४५ मे महाबलेश्वर मे गाधीजी के साथ चर्चा की। गाधीजी तो बहुत पक्के थे। उनकी तो यही इच्छा थी कि ट्रस्टी अथवा कार्यकर्ता तीसरे दर्जे मे ही सफर करें। जनता के प्रतिनिधि के रूप में वे अन्य प्रकार से यात्रा कर ही नही सकते थे—किंतु यदि कोई अधिक ऊचे दर्जे मे सफर करना चाहे, तो वह भले ही अपनी गाठ से पैसा खर्च करके करे। ट्रस्ट की ओर मे वह खर्च पाने की आशा नही रख सकता।

इस मुद्दे पर गाधीजी ने अत मे समझौते के रूप मे नीचे लिखी तज-वीज की

"सफर खर्च तीसरे दर्जे का होगा, लेकिन स्थानीय अध्यक्ष को यह छूट रहेगी कि वह बीमारी अथवा अन्य उचित कारण से, जिनका उसे कार्रवाई रजिस्टर में उल्लेख करना होगा, दूसरे दर्जे के किराये की स्वीकृति दे सके।"

उस दिन गाधीजी का मौन दिवस होने के कारण उन्होंने उपर्युक्त बात एक कागज पर लिखकर उसके नीचे लिखा—"यह तो मेरी सूचना है।"

यह तो सबकी जानी हुई बात है कि गाधीजी सदा तीसरे दर्जे मे सफर

करते थे। किंतु कई लोगो ने यह कहा कि गाधीजी तीसरे दर्जे में जाते हैं, इसमे क्या विशेषता है? विशेष व्यवस्था से उनको और उनकी मडली को आवश्यक जगह मिल सकती है। उनके प्रति आदर भाव के कारण भी लोग उनके लिए जगह खाली कर देते हैं। इसलिए उनके लिए तो वह ठीक है, किंतु हमारे जैसे सामान्य व्यक्ति के लिए यह कष्ट सहन करना लगभग असह्य हो जाता है। इस दलील मे सार होते हुए भी यह न भूलना चाहिए कि गाधीजी को उनके हिंदुस्तान मे आने के अनेक वर्षो बाद यह महान पद प्राप्त हुआ था। उससे पहले तो वह देश के सामान्य अग्रणी कार्यकर्ताओ की श्रेणी में थे, किंतु उस समय भी वह तीसरे दर्जे में ही सफर करते थे।

किंतु इस विषय में उन्होने अपना तात्विक मतव्य समझाते हुए भाई श्यामलाल की दलील के उत्तर मे निम्न प्रकार लिखा

"श्यामलाल जो कुछ कहते हैं, मुझपर उसका असर नही होता। अनेक सभ्रात व्यक्ति भी तीसरे दर्जे में ही जाते है। असुविधाए दूर करनी चाहिए। उनसे कायर की भाति भागना स्वतत्रता-प्रेमी का काम नही।"

अब तो स्वतत्रता प्राप्त हो चुकी है, किंतु फिर भी असुविधाओ के दूर होने में काफी समय लगता प्रतीत होता है। तीसरे दर्जे मे शारीरिक असुविधाए तो बहुत होती ही हैं, किंतु उससे भी अधिक इस दर्जे के सफर में सामान्य जनता का हर तरह का जो पतन दिखाई देता है, उससे मेरे मन को बहुत व्यथा पहुचती है। अपने लिए सब सुविधाए प्राप्त करने में मानवता को भुला दिया जाता है। रिश्वत एव भ्रष्टाचार का खुले हाथो आश्रय लिया जाता है। स्थान प्राप्त करने के लिए आत्म-सम्मान खो दिया जाता है। अशिष्ट बनकर धक्कम-धक्का की जाती है। स्त्री-बालको तक का कोई विचार नही करता। मनुष्य सामान के बडलो की तरह डिब्बो मे सटे रहते हैं। यह दृश्य देखकर मुझे कई बार यह अनुभव करके कष्ट हुआ है कि लोगो को किस तरह यह सब सहन करना पडता है। मुझे इस दुख से भी अधिक दुख इस बात का है कि हम लोग इसके प्रतिकार के लिए कोई भी उचित उपाय नहीं करते। सफर करनेवाले और लोग भी हमारे विरुद्ध विद्रोह न करके गूगे बने हुए यह सब कुछ सहन कर लेते हैं। यह स्थिति हमारे राष्ट्रीय जीवन की कितनी दीनता प्रकट करती है।

इसका उपाय गाधीजी ने जो वताया है, वही है, अर्थात असुविधाओ के मुकाबले में कायर बनकर दूर भागने के बजाय उन्हे सहन करके उनको दूर करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए, और यह तभी सभव हो सकता है जबकि हमारे सभी नेता तीसरे दर्जे में सफर करें। वे जब जनता के एक अग के रूप मे उसके साथ मिलकर रहेगे, तभी लोग सच्चा स्वराज्य और सच्ची स्वतत्रता भोग सकते हैं। तीसरे दर्जे की यात्रा मे यह महान तत्त्व-ज्ञान भरा हुआ है। किंतु हमे यह स्वीकार करता ही होना कि दुर्भाग्यवश हम ऐसा नही कर सकते और कुछ नही तो कम-से-कम हमे अपनी यह दुर्बलता तो स्वीकार करनी ही चाहिए।

: ३६ :

असहयोग की मर्यादाएं

मै कस्तूरबा निधि के काम मे पूरी तरह सलग्न था कि उसी समय २६ अगस्त १६४४ को मेरे पास गाधीजी का निम्नलिखित तार आया

If Gujrat flood situation demands cessation Kasturba Fund, you should suspend and devote yourself flood distress collection —*Bapu*

अर्थात—"गुजरात की बाढ के कारण यदि आवश्यकता पडे तो तुम्हे कस्तूरबा निधि का काम स्थगित करके बाढग्रस्तो की सहायतार्थ चदा इकट्ठा करने के काम में लग जाना चाहिए।"—बापू

इस तार का मैने जवाब दिया कि मुझे विश्वास है कि बाढ-पीडितो की सहायता के लिए आवश्यक धन प्राप्त हो सकेगा। इस सबध में विस्तृत पत्र लिख रहा हू।

उत्तर भेजने से पहले मैंने अपने मित्र सेठ कस्तूरभाई के साथ सलाह कर ली थी और मेरा विश्वास था कि इस काम मे उनका पूरा सहयोग मिलेगा और मैं धन-सग्रह कर सकूगा।

किंतु इस समय सकट-निवारण का काम पहले के वर्षों जैसा सुसाध्य नही था। अन्न-वस्त्र की खरीदी और आयात-निर्यात पर सरकारी नियत्रण

थे। इसी प्रकार रेल-मार्ग से माल भेजने में भी अनेक प्रतिबंध थे। नियंत्रणो के कारण सामान प्राप्त करना और उसका समान वितरण करना भी बड़ा कठिन था। ऐसी स्थिति में केवल धन-संग्रह करके कुछ भी काम कर सकने जैसी स्थिति नहीं थी। यह तो संभव दिखाई देता था कि संकट-निवारण के काम में सरकार सुभीता कर देगी और उस हद तक नियंत्रणो को ढीला कर देगी। मुझे लगता था कि प्रजा को बचाने के लिए संकट-निवारण के जो-जो उपाय किये जायेंगे, सरकारी तंत्र उनमे बाधक न बन-कर सहायक ही होगा।

मेरे मन में जरा भी शंका नही थी कि ऐसे कार्य के संबंध में सरकार के साथ सहयोग करने अथवा मदद लेने में कांग्रेस की निर्धारित नीति में कोई बाधा नहीं आती—आनी चाहिए ही नहीं। जनता की सेवा के लिए ही कांग्रेस का अस्तित्व है, और ऐसे अवसरो पर यदि असहयोग की मिथ्या धारणा के कारण हम दूर रहे, तो यही नहीं कि आम जनता हमारी सेवाओ से वंचित रहेगी, बल्कि जनता कांग्रेस से विमुख होकर, अपनी दैनिक आव-श्यकताओ के लिए सरकारी अधिकारियो के मुह की ओर देखना शुरू कर देगी। यह भारी अनिष्ट मुझे प्रतीत होता था। जनता की सर्वांगीण सेवा द्वारा ही उसके साथ संपर्क कायम रखा जा सकता है और इस सेवा द्वारा ही जनता के संगठन और शक्ति को विकसित किया जा सकता है। कांग्रेस के उद्देश्य का यही मर्म मैं समझता था।

इस दृष्टि से कांग्रेस ने १९२१ से गुजरात में जो-जो काम किये, उन पर एक नजर डाली जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि बाढ आने, अकाल पडने, आग लगने, संक्रामक रोग फैलने अथवा जनता पर अन्य किसी प्रकार की आपत्ति या संकट आने पर, प्रत्येक अवसर पर कांग्रेसवाले अपना संगठन बनाकर जनता की सहायता के लिए दौड़ पडते थे। बोरसद ताल्लुके के प्लेग और १९२७ के महान बाढ संकट आदि के समय कांग्रेस ने इसी उद्देश्य से काम किया था और इसीलिए लोग अनेक यातनाए और हानि सहकर भी कांग्रेस के पक्ष में खडे रहे। जनता में यह विश्वास जमाने में, कि कांग्रेसजन सदा के लिए हमारे निःस्वार्थ और सेवाभावी मित्र है और सदा अपने पक्ष में हैं, उपर्युक्त प्रकार की सेवाओ का बहुत योग था। केवल राजनैतिक घोषणाओ

अथवा भाषणो से अधिक समय तक उनका साथ नही रखा जा सकता, वरन सेवाओ से रखा जा सकता है और इसीलिए मेरा यह स्पष्ट मत था कि सरकार के साथ असहयोग और नाजुक समय मे जनता की सेवा, इन दोनो के बीच चुनाव करना हो तो सरकार के साथ सहयोग करके भी जनता की सेवा करनी चाहिए।

किंतु मार्च १९४४ मे जब मैं साबरमती जेल से छूटकर बाहर आया, तब मैंने काग्रेसजनो मे सरकार के साथ सहयोग के सबध मे विभिन्न प्रकार के विचार देखे। कई तो इस हद तक बढे हुए थे कि वे किसानो एव पिछडे वर्गों की वर्षो से चली आ रही सहकारी समितिया छोड देने की हिमायत करते थे। ये विचार मेरे गले नही उतरते थे। काग्रेसी अपने लिए राशन की दूकानो से राशन खरीद सकते थे, राशन के नियमो के अधीन रहकर अपने लिए कपडा ले सकते थे, इसमे यदि असहयोग आडे नही आता था तो सामुदायिक रूप से गरीब वर्ग के लाभ के लिए सरकार से स्वीकृति लेकर अन्न और वस्त्र आदि के वितरण का काम क्यो नही किया जाता? उस समय कितने ही काग्रेसजनो की कल्पना का असहयोग मुझे या तो गलतफहमी पर आधारित था फिर राजनैतिक तुक्के-जैसा ही लगता था।

इस स्थिति मे सहायता-कार्य के लिए धन-सग्रह करने के अलावा कार्य-पद्धति निर्धारित करने की भी आवश्यकता थी, इसलिए मैंने सहायता-कार्य के सबध मे अधिकारियो के साथ सहयोग की आवश्यकता बताकर उस विषय मे गाधीजी का मत जानने के लिए एक पत्र लिखा। गाधीजी ने उसके उत्तर मे एक सक्षिप्त वक्तव्य प्रकाशित करके मुझे उसी आशय का निम्न तार दिया

Your letter Rule is non-cooperation, but if your association with authorities brings real relief to distressed people, you need not hesitate Golden rule is follow fearlessly your own conscience

अर्थात—"तुम्हारा पत्र मिला। नियम तो असहयोग है, किंतु यदि अधिकारियो के साथ सहयोग करने से सकटग्रस्त लोगो को सच्ची राहत मिलती हो, तो तुम्हे झिझकने की आवश्यकता नहीं। अपनी अन्त-

रात्मा की पुकार के अनुसार निर्भयतापूर्वक चलना ही स्वर्ण नियम है।"

इस प्रकार एक अत्यंत अटपटे प्रश्न का निर्णय हो गया और गुजरात में बाढ-संकट-निवारण का काम कर सकना संभव हुआ।

: ४० :

गांधीजी और कापीराइट

सन १९४३ और ४४ में जब नरहरिभाई और मैं साबरमती जेल में थे, तब 'नवजीवन' में प्रकाशित गांधीजी के लेखों पर नवजीवन-ट्रस्ट के कापीराइट का प्रश्न खडा हुआ था। उस समय नरहरिभाई नवजीवन ट्रस्ट के एक ट्रस्टी थे और मैं उसका कानूनी सलाहकार था, इसलिए स्वभावत. ही इस प्रश्न पर नरहरिभाई के साथ चर्चा होती थी और उस विषय में कई प्रकाशन संस्थाओं के साथ पत्र-व्यवहार भी करना पडा था।

श्री आर० के० प्रभु नामक एक सज्जन ने (जो 'बबई क्रानिकल' के सपादकीय विभाग में काम करते थे और जिन्होंने गांधीजी के लेखों का खूब अध्ययन किया था), गांधीजी के कतिपय लेख सकलित और सपादित करके 'ब्रह्मचर्य' और "The Mind of Mahatma" नामक दो पुस्तकें तैयार की थीं और वे उन्होंने कुछ शर्तों पर बबई की 'थैकर एड कपनी' तथा 'ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस', इन दो प्रसिद्ध प्रकाशन सस्थाओं को प्रकाशित करने के लिए दी थीं। स्वामी आनद ने इस बात का पता चलते ही नवजीवन ट्रस्ट के कापीराइट का प्रश्न उठाया और इसलिए नवजीवन सस्था की ओर से बबई के सोलीसिटरों—मेसर्ज मदुभाई जमियतराम कंपनी तथा मेसर्ज मणिलाल, खेर एड अबालाल कंपनी की मार्फत उपर्युक्त प्रकाशकों को कानून के अनुसार नोटिस देकर पत्र-व्यवहार करने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई। मैं नरहरिभाई के साथ सलाह करके इस पत्र-व्यवहार के मसविदे तैयार करता था, जो स्वामी के पास भेजे जाते और उसके अनुसार बबई में उपर्युक्त सोलिसिटर उत्तर भेजते। कई महीनों तक यह पत्र-व्यवहार चला।

इसमें उक्त प्रकाशन सस्थाओ ने निम्नलिखित मुद्दे उठाये थे .

(१) ता० २५ मार्च १९२६ के 'यग इडिया' मे गाधीजी ने लिखा था कि "मेरे सपादकत्व मे निकलनेवाले पत्रो मे प्रकाशित लेख सब किसीकी मालिकी के—Common Property—समझे जाने चाहिए, कापीराइट स्वाभाविक—Natural—वस्तु नही है।" गाधीजी ने ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस को २६ मई १९३१ में लिखे अपने पत्र मे बताया था कि "मैंने अपने किसी भी प्रकाशन के सबध में स्वय कोई कापीराइट नही रखा है।" इससे गाधीजी की किसी भी रचना के सबध मे कापीराइट हो ही नहीं सकता, यह उनकी मुख्य दलील थी।

(२) इनका एक सुझाव यह भी था कि गाधीजी की रचनाओ के सबध मे नवजीवन-ट्रस्ट का कापीराइट हो, तो भी ट्रस्टियो को गाधीजी के दिखाये मार्ग पर ही चलना चाहिए।

इन दलीलो में से मुद्दे की दलील तो पहली ही थी। इस विषय मे सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता था कि नवजीवन ट्रस्ट याने गाधीजी और गाधीजी याने नवजीवन ट्रस्ट, फिर भी कानूनी तौर पर स्थिति यह नही थी। 'यग इडिया', 'नवजीवन', 'हरिजन' आदि साप्ताहिक और प्रकाशन मदिर की प्रकाशित गाधीजी की पुस्तकें नवजीवन ट्रस्ट के स्वामित्व की होने के कारण उन सबका कापीराइट नवजीवन ट्रस्ट का ही है।

कापीराइट के विषय मे गाधीजी के मतव्य 'यग इडिया' और 'हरिजन' मे प्रकाशित टिप्पणियो से मालूम हो जाते हैं। २५ मार्च १९२६ के 'यग इडिया' मे उन्होने लिखा था कि "मैंने अपनी किसी भी रचना का अभी कापीराइट नही किया है।" ("I have never yet copyrighted any of my writings") इसी लेख मे उन्होंने आगे लिखा था

"मेरे सपादकत्व मे निकल रहे पत्रो मे प्रकाशित लेख सब किसीकी मालिकी के—Common Property—गिने जाने चाहिए। कापीराइट स्वाभाविक—Natural—वस्तु नही है। आधुनिक युग की यह एक सस्था—Institution—है और कुछ अंशो मे कदाचित वह वांछनीय है।"

इसी प्रकार १५ जून १९४० के 'हरिजन' मे गाधीजी लिखते हैं

"मै यह मानता हू कि मेरे लेखो को सक्षिप्त करने अथवा उनका साराश निकालने मे मेरे साथ बहुत अन्याय होता है। मेरी जो कल्पना नही होती वह अर्थ इनमे से निकाला जाता है। ..इतने पर भी अपने लेखो का कापीराइट कराने की मेरी इच्छा नही है। मैं जानता हू कि इससे पैसे की हानि होती है। किंतु 'हरिजन' नफा कमाने के लिए नही निकाला जाता। वह घाटे में नही चलता इतने मे ही मुझे सतोष है।"

उपर्युक्त वाक्यो से स्पष्ट होता है कि गाधीजी अमर्यादित कापीराइट मे विश्वास नही करते थे। इतने पर उन्हे मर्यादित रूप मे कापीराइट की आवश्यकता प्रतीत होती थी।[1]

यह तो सुविदित ही है कि गाधीजी ने अपनी आत्मकथा के प्रकरण और इसी प्रकार अपने सपादकत्व मे निकलनेवाले साप्ताहिको में प्रकाशित लेखो को दूसरे अखबारवालो को अपने प्रकाशनो मे छापने की छूट दे रखी थी। वह यह मानते थे कि उनकी रचनाओ का जितना अधिक प्रचार हो सके उतना ही अच्छा। इससे यह स्पष्ट था कि कापीराइट मे पैसे प्राप्त करने की दृष्टि हो तो गाधीजी ने ऐसे कापीराइट को अस्वीकार कर दिया था। इसी प्रकार उनकी अनेक रचनाए विषयवार चुनकर पुस्तक-रूप मे प्रकाशित हो, इस बात मे भी वह सहमत थे। उनके मन मे कापी-राइट का महत्व उससे प्राप्त होनेवाले पैसे मे नही था, प्रत्युत उनके विचारो और रचनाओ को, जान-अजान मे, उल्टे अर्थ में न रखा जाय, इसके लिए वह बहुत आतुर रहते थे, और मुख्यत इसी कारण उनकी यह इच्छा थी कि उनकी स्वीकृति के बिना उनकी रचनाए कोई प्रकाशित न करे—खास-कर जहा उनकी रचनाए ज्यो-की-त्यो प्रकाशित न करके उनका सार निकालकर छापे जाते, वहा तो अर्थ का विपर्यास होने की बहुत ही सभावना रहती थी। कहीं सार निकालनेवाला मुद्दे के शब्द अथवा वाक्य छोड न जाय,

---

[1] कापीराट के संबंध में गाधीजी के विचार उनके निम्नलिखित लेखों से जाने जा सकेंगे—(१) ४ मार्च, २६ और २५ मार्च १९२६ का 'यग इडिया' तथा (२) १५ जून १९४० तथा १२ जुलाई १९४० का 'हरिजन'।

या वाक्य का आशय गलत तरीके पर प्रदर्शित न करे, जिससे उन रचनाओ से न केवल गाधीजी का अभिप्रेत अर्थ ही न निकले, प्रत्युत कभी-कभी उल्टा ही अर्थ निकलने की सभावना रहे, इसलिए उनका यह आग्रह रहता था कि ऐसी रचनाए उनकी अथवा उनकी ओर से किसी विश्वासपात्र सहयोगी की नजर मे लाये बिना प्रकाशित न की जाय।

थैकर एड कपनी और ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस के साथ चल रहे पत्र-व्यवहार के दौरान मे हमारे बबई के सोलिसिटर मित्रो ने यह भी मुद्दा उठाया था कि कापीराइट के अधिकार नवजीवन के ही हैं, इस विषय की मेरी दलील कुछ लगडी है। गाधीजी ने जब तक अपनी रचनाओ-सबधी कापीराइट के अधिकार बाकायदा दस्तावेज के द्वारा नवजीवन ट्रस्ट को सौपे न हो, तब तक वे अधिकार नवजीवन के समझे नही जा सकते और इसलिए गाधीजी को नवजीवन ट्रस्ट के हक मे एक दस्तावेज कर देना आवश्यक है। किंतु उस समय (१६४३) तो हम सब जेल मे थे, इसलिए दस्तावेज का काम हो सकना सभव नही था।

इस सबध में मैंने गाधीजी के २० फरवरी १६४० को किये गये वसीयत-नामे का भी उपयोग किया। इसमे गाधीजी ने लिखा था

"मेरी कुछ भी मिल्कियत हैं, यह मै नही मानता। किंतु व्यवहार मे अथवा कानून मे स्थावर या जगम जो कुछ मेरा समझा जाता हो, तथा मेरी लिखी और अबसे आगे लिखी जानेवाली पुस्तकें, लेख आदि—प्रकाशित अथवा अप्रकाशित—और उन सबके कापीराइट के अधिकार, मैं इन सबका वारिस नवजीवन सस्था को ठहराता हू।"

मेरी दलील यह थी कि इस आलेख से यह स्पष्ट होता है कि गाधीजी ने अपने निजी स्वामित्व को मानकर कुछ भी नही लिखा था। उन्होने जो कुछ लिखा वह नवजीवन सस्था के लिए ही, और इसलिए गाधीजी के निजी कापीराइट का प्रश्न उठता ही नही, इतने पर भी उनसे अभिहस्ताकन (Assignment) करा लेना अधिक सावधानीपूर्ण कदम था, इसलिए जेल से छूटने के बाद यथा समय उसे करा लेने का भी मैंने विचार किया था।

मै १० मई १६४४ को साबरमती जेल से छूटा। तब तक यह मामला

चल ही रहा था। भाई प्रभु, थैकर एड कंपनी और ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, इन तीनो के साथ कुछ शर्तों पर समझौता करने की चर्चाए चल रही थी। उनमे गाधीजी का दृष्टि-विंदु कायम रहे, यही कापीराइट के सवध मे हमारा, अर्थात श्री नरहरिभाई का और मेरा, रवैया था। अत में समझौते के अतिम उपाय के रूप मे तो हम इन दोनो पुस्तको के जितने भी फार्म छपे हो, वे सब खरीदकर श्री प्रभु को तथा उपर्युक्त प्रकाशन सस्थाओ को हानि से बचा लेने के लिए भी तैयार थे।

इसी अरसे में ६ मई १९४४ को गाधीजी आगाखा महल से छूटे। मैं उनसे कस्तूरवा-निधि के सवध में बातचीत करने के लिए स्वामी आनद के साथ १६ जून १९४४ को पूना मे उनसे मिला। उस समय मैंने अभिहस्ताकन के, और साथ ही श्री प्रभु और उनके प्रकाशको के साथ चल रही समझौता-वार्ता के सवध में उनसे चर्चा की। मैंने उन्हें नवजीवन ट्रस्ट के पक्ष में उनकी अपनी ओर से किये जानेवाले अभिहस्ताकन आलेख की रूप-रेखा समझा दी थी और उन्होने उसे स्वीकार कर लिया था कि मैं मस्विदा तैयार कर दूगा उसके अनुसार वह दस्तावेज लिख देंगे।

समझौते के रूप मे गाधीजी ने नीचे लिखे हुए मुद्दे स्पष्ट किये थे :

(अ) प्रकाशक यदि कतिपय शर्तें स्वीकार करें तो उन्हें नुक्सान से बचा लेने के लिए उन्हे उन पुस्तको को प्रकाशित करने देने मे बापू को कोई आपत्ति नही थी।

(१) प्रकाशन से पहले हमें जांच कर लेनी चाहिए। इसके लिए बापू ने स्वामी आनद और आर्यनायकम् के नाम सुझाये थे।

(२) हम जो कीमत निश्चित करें, प्रकाशकों को उसी पर पुस्तकें बेचनी चाहिए। बापू की दृष्टि में यह शर्त बडे महत्व की थी। प्रकाशकों की इच्छा यदि वास्तव में बापू के विचारो का प्रचार करना ही हो, तो उन्हे इस शर्त को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। यदि ये लोग इन शर्तों को स्वीकार कर लेते हैं, तब उनको प्रकाशन की अनुमति एक सस्करण तक के लिए मर्यादित रहे अथवा अधिक सस्करणो की छूट रहे, इस प्रश्न का कोई महत्व नहीं था।

(३) प्रकाशन की अनुमति देने मे इन रचनाओ को जिस समय और

जिस रूप मे चाहे प्रकाशित करने के नवजीवन-ट्रस्ट के अधिकार को कोई बाधा नही आनी चाहिए।

(ब) यदि प्रकाशको को ये शर्तें स्वीकृत न हो तो उन्होने छपाई आदि मे जो खर्च किया हो, उसमे उन्हे नुक्सान न हो, इसका उपाय करने को भी वह तैयार थे, किंतु प्रकाशक इस प्रकार नुक्सान का कुछ लें, बापू के मत से यह प्रकाशको के लिए उचित नही कहा जा सकता।

यह काम विदेशी प्रकाशको को सौपने के विरुद्ध हम—स्वामी तथा मैं—दोनो ने बातचीत मे बापू के सामने अपनी नापसदगी प्रकट की थी। इस सबध मे गाधीजी ने यह विचार प्रकट किया कि यदि विदेशी प्रकाशक मूल्य आदि सबधी अपनी शर्तों पर काम की जिम्मेदारी लें, तो केवल उनके विदेशी होने के कारण ही वह आपत्ति नही करेंगे। इसके विपरीत, उनके प्रकाशन की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने से अधिक सख्या में पाठको के पास वह पहुच सकेंगी और इससे कदाचित अपनी अतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा मे भी वृद्धि हो।

हमारी इस चर्चा के बाद गाधीजी ने ५ जुलाई १९४४ को पचगनी से प्रकाशन सस्थाओ को लिखे जानेवाले पत्र का एक मस्विदा मेरे सुझाव जानने के लिए मेरे पास भेजा। उसमे मुद्दे का भाग नीचे लिखेनुसार था

"It was after much thought that I declared a trust in connection with my writings I had observed misuse of Tolstoy's writings for want of a trust By curing the defect I preserved fully the idea lying behind dislike for copyright, i e, for personal gain for one's writings The idea also was to prevent profiteering by publishers or distoration or misrepresentation, wilful or unintentional I have requested the Navajiwan Trust to permit you to publish Shri Prabhu's compilation with the right for you to multiply editions as long as there is demand for it, provided that the price will be reduced to the minimum,

leaving to you a profit of not more than five percent, one-half of which shall be paid to Shri Prabhu as honorarium for his labours One hundred copies of each edition should be given free of cost to the Navajiwan Trust The Navajiwan Trust should have the right to publish a cheaper edition (in English or in any Indian language) for sale in India including Burma and Ceylon If per chance any profit acctues, it will be equally divided among your firm, Shri Prabhu and the Navjiwan Trust"

इस मस्विदे के साथ गाधीजी ने ५ जुलाई १९४४ को निम्नलिखित पत्र लिखा

"भाई प्रभु के साथ बातें हुई। उन्होने स्वार्थ-वृत्ति से कुछ किया है, मुझ पर ऐसी कोई छाप नही पडी। इनके लिए पत्र देख गया हू। अपनी ओर से भेजे गये मेरे पास नहीं हैं। आने पर देख लूगा। किंतु भविष्य के लिए इनकी आवश्यकता नही रहती। इसलिए दोनो प्रकाशक सस्थाओ को लिखे जानेवाले पत्र का मस्विदा इसके साथ भेज रहा हू। तुम उसे पास करो तो उसके अनुसार पत्र लिखकर भेज दूगा। उसमें कुछ परिवर्तन सुझाना हो तो सुझाना।

"पुठा पर लिखने के सबध में मैं बात कर रहा हू। इस सबध मे तुम्हे कुछ कहना हो तो कहना। ब्रह्मचर्यवाली पुस्तक के नाम के विषय में मै सोच रहा हू। ऐसे विषय में विचार करने में तुम कदाचित समय लगाना नही चाहोगे।"

इसी अरसे में गाधीजी ने मेरे तैयार किये मस्विदे के अनुसार नवजीवन के हक मे कापीराइट की दस्तावेज पचगनी में श्री बालासाहब खेर के सामने हस्ताक्षर करके भेज दी और इस प्रकार कानूनी सलाहकारो को जो कुछ कमी मालूम होती थी, वह पूरी हो गई। इस दस्तावेज का स्टाप-सबधी प्रश्न भी नाजुक था। किंतु गाधीजी ने वसीयत में लिखा था— "मेरी कोई भी मिल्कियत है, यह मैं नही मानता।" इस कथन का लाभ लेकर गाधीजी के कापीराइट का मूल्य शुभ मानकर, नाम-मात्र के स्टाप पर

इस अभिहस्ताकन-दस्तावेज की रजिस्ट्री कर दी गई।

: ४१ :

बापू का आतिथ्य

सन १९३० मे स्वराज्य के लिए सत्याग्रह आदोलन प्रारभ करते समय गाधीजी यह प्रतिज्ञा करके कि जबतक स्वराज्य नही मिलेगा मैं साबरमती आश्रम मे रहने के लिए वापस नही जाऊगा, डाडी-कूच के लिए निकले थे। इस आदोलन का दूसरा दौर १९३४ मे समाप्त हुआ और गाधीजी ने अपना निवास वर्धा और उसके निकटवर्ती सेगाव नामक ग्राम में रखा और अपनी सब प्रवृत्तिया सेगाव को केंद्र बनाकर जारी रखी। सन १९३७ में काग्रेसी मन्त्रिमडलो के सत्ताग्रहण करने पर सेगाव का सेवाग्राम के रूप मे नया और सार्थक नामकरण हुआ।

मेरी सेवाग्राम जाकर वहा के आश्रम मे कुछ दिन रहने और वहा की प्रवृत्तिया देखने की विशेष इच्छा होते हुए भी कोई-न-कोई कारण बाधक बन जाता और इसलिए मैं १९४४ के अत तक सेवाग्राम जा नही सका था। बीच में १९४० में बबई मन्त्रिमडल के इस्तीफे के बाद मैंने सेवाग्राम जाकर वहा आठ दिन रहने का निश्चय किया और तदनुसार स्व० महादेव भाई को लिखा भी कि "मुझे वहा कुछ भी काम नही है, किंतु केवल बापू के सान्निध्य में और शाति के साथ वहा आठ दिन रहने का विचार है।" मेरा विचार पत्नी सहित जाने का था। सब तय हो गया, किंतु इसी बीच व्यक्तिगत सत्याग्रह का डका बज उठा। काग्रेसजनो की दृष्टि मे मैं एक प्रसिद्ध काग्रेसी और बबई विधान सभा का अध्यक्ष था, इसलिए सत्याग्रह की उस समय की योजना के अनुसार स्वभावत ही मुझे प्रमुख स्थान दिया गया और इसलिए मैंने सेवाग्राम जाने का विचार छोड दिया।

उसके बाद १९४४ के अत मे कस्तूरबा ट्रस्ट की बैठको के सिलसिले मे पहली बार सेवाग्राम जाने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं और मेरी पत्नी नवबर १९४४ मे वहा जाकर चार दिन रहे। हमने वर्धा मे रहने की अपेक्षा सेवाग्राम में ही रहना अधिक पसद किया। सेवाग्राम की एक कुटिया में हमारा

ठहरना हुआ था। एक बहुत छोटी सी, किंतु गांधीजी के मधुर स्वभाव की बात का यहां उल्लेख करना आवश्यक समझता हूं।

मुझे सन १९३२ से मधुमेह की बीमारी है। इसलिए भोजन में दूध की पर्याप्त मात्रा लेनी पड़ती है। गांधीजी यह बात जानते थे। सेवाग्राम में गाय का ही दूध होता था और वह प्रत्येक को एक निश्चित मात्रा में मिलता था, किंतु मेरे स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक दूध की आवश्यकता होने के कारण हमारे वहां पहुंचने से पहले ही गांधीजी ने वहां के संचालकों को सूचित कर दिया था कि "देखो, भाई मावलंकर और उनकी पत्नी कल आ रहे हैं। मावलंकर को उनके शारीरिक स्वास्थ्य के लिए दूध की अधिक आवश्यकता है। इसलिए प्रत्येक के लिए दूध की एक निश्चित मात्रा का नियम भाई मावलंकर के साथ लागू न कर बैठना। उनकी पत्नी से पूछकर वह घर पर नित्य जितना दूध लेते हों, उतना उन्हें दे देना। दही, छाछ आदि की भी व्यवस्था करनी होगी, इसी प्रकार शाक-सब्जी में वह क्या लेते हैं, यह मालूम करके उसके अनुसार प्रबंध करना चाहिए।"

गांधीजी इतने पर ही नहीं रुक गये। उन्होंने व्यवस्थापक को यह भी सूचना दी कि यहां मच्छरों का जोर बहुत है, इसलिए भाई मावलंकर और उनकी पत्नी के लिए मच्छरदानी की व्यवस्था करना न भूल जाना।

सेवाग्राम पहुंचने के बाद भोजन करने जाने पर अपने पास दूध के लिए बड़ा कटोरा देखकर मुझे जरा आश्चर्य हुआ और साथ ही संकोच भी। सब लोग एक निश्चित मात्रा में ही दूध लेते हों, तब मैं अकेला ही किस तरह अधिक दूध ले सकता हूं—मुझे और मेरी पत्नी को यह संकोच हुआ। और इसलिए कटोरे में माप भरकर दूध परोसे जाते ही मैंने कहा—"बस, इतने से काम चल जायगा।" परोसनेवाले भाई समझ गये और इसलिए उन्होंने मुझसे कहा—"आपको तो अधिक दूध की आवश्यकता है और इसलिए बापू ने कल ही यह सूचना दे दी थी कि आपको आपकी आवश्यकता के अनुसार दूध देना चाहिए।" इससे मुझे बापू की सूचना देने का पता चला।

एक रात सेवाग्राम में बिताने के बाद दूसरे दिन प्रातः जब बापू से मिलने गया, तब उन्होंने पहला सवाल यह किया—"कहो, रात को नींद तो ठीक आई न? मच्छर का कष्ट तो नहीं हुआ? व्यवस्थापक ने तुम्हें मच्छर-

दानी दी थी या नही ? मैंने उन्हे सूचना दे दी थी।"

इस पूछताछ से मैं तो आश्चर्य और विस्मय से मुग्ध हो गया। इतना बडा आदमी, इतने अधिक राष्ट्र-कार्य में सलग्न होते हुए भी, मेरे-जैसे एक छोटे से व्यक्ति के लिए भी व्यवस्था करने मे इन्हे भूल नही हुई। उन्होने व्यवस्था लगन से करवाई थी। इस छोटी सी घटना मे गाधीजी का प्रेम और उसी प्रकार व्यवहार-कुशलता, दोनो गुण सहज ही आखो के सामने आ जाते हैं।

: ४२ :

स्व० आनंदशंकरभाई को अंजलि

मैं सन १९०४ से १९०८ तक अहमदाबाद के गुजरात कालेज का एक विद्यार्थी था। उस समय स्व० आनदशकर ध्रुव कालेज में सस्कृताध्यापक थे। मैं सस्कृत का विद्यार्थी था, अत मुझे उनके पास पढने और उनके निकट सपर्क मे आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। १९०९ मे कालेज छोडने के बाद भी मुझे स्व० आनदशकरभाई से मिलने के कई प्रसग आये। इसके बाद वह कई वर्षों तक बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के वरिष्ट उप-कुलपति—प्रो-वाइस चासलर—के पद पर रहे। महामना मालवीयजी ने गाधीजी की सलाह पर उन्हे विशेष रूप से इस पद पर आमन्त्रित किया था। सभी यह जानते हैं कि स्व० आनदशकरभाई के कार्य-काल मे बनारस हिंदू-विश्वविद्यालय की पर्याप्त प्रगति और विकास हुआ था।

बनारस विश्वविद्यालय से निवृत्त होकर अहमदाबाद आने के बाद उन्होंने गुजरात की पुरानी और सुपरिचित सस्था गुजरात विद्या सभा (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी) के काम का भार अपने ऊपर लेकर वर्षो तक अध्यक्ष के रूप मे उसका मार्गदर्शन किया। मेरे मित्र स्व० हीरालाल त्रिभुवनदास पारीख के कारण गुजरात विद्या सभा के साथ मेरा बहुत पुराना—लगभग १९१२ से—सबध था, और दिन-दिन वह प्रगाढ होता जाता था। १९२७ में श्री रमणभाई की मृत्यु के बाद इस सभा के कानूनी कार्यो के कारण मेरा इस के साथ विशेष सबध हुआ। सभा के कानूनी सलाहकार के रूप में मैं

भी सभी काम अवैतनिक करता था। उस समय के सस्मरण बड़े मधुर हैं। ब्रह्मचारी की बगीची के ट्रस्ट का पुनर्गठन, प्रेमाभाई हाल के नवनिर्माण में और अन्य विविध प्रकार के कार्यो द्वारा मैं इस सभा के कामो में दिलचस्पी लेता रहता था।

श्री आनदशकरभाई के अध्यक्ष बनने के बाद सन १९३८ मे बबई की काग्रेस सरकार ने देशी भाषाओ को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ वार्षिक रकम देने की नीति ग्रहण की। उस समय मैंने इस कार्य की रूपरेखा श्री आनदशकर-भाई से प्राप्त करके श्री बालासाहब खेर को दी थी। गुजरात मे गुजराती साहित्य और भाषा के सबध में व्यापक दृष्टि से काम करनेवाली और काम करने की क्षमता रखनेवाली यही एक सस्था है। इसलिए मैंने सरकार द्वारा निर्धारित वार्षिक सहायता इसीको देने के लिए आग्रहपूर्वक सलाह दी थी। बबई सरकार के साथ चर्चाओ के बाद जो योजनाए बनाई गई थीं, विद्या सभा उनके अनुसार काम कर रही है। यह सस्था स्नातकोत्तर (पोस्ट-ग्रेजुएट) कक्षाए चलाकर गुजराती, सस्कृत, भारतीय सस्कृति आदि विषयो का अध्ययन और अध्यापन कार्य कर रही है। सौभाग्य से जबसे ब्रह्मचारी की बगीची के ट्रस्ट की मूल योजना मे सशोधन करके जिला अदालत ने उसका नया रूप स्वीकृत किया, तब से संस्कृत के अध्ययन को नया स्वरूप और नया बल मिला है और इस ट्रस्ट का स्नातकोत्तर वर्ग मे पूर्ण सहयोग होने के कारण धन और शक्ति का सचय हुआ है और ठोस आधार पर काम हो रहा है।

ये सभी योजनाए स्व० आनदशकरभाई के मस्तिष्क की उपज थी और उनके ही जीवन काल में इन्हें कार्यान्वित करने का काम भी आरभ हो गया था। उसके बाद सन १९३९ के अतिम भाग मे श्री आनदशकरभाई का स्वास्थ्य अधिक खराब रहने के कारण विद्या सभा के काम में उनका विशेष सहायक हो सकने की दृष्टि से उपाध्यक्ष का स्थान पैदा किया गया और क्योंकि सभा का बहुत-कुछ महत्व का काम मैं करता था, इसलिए मुझे ही उपाध्यक्ष के रूप मे चुन लिया गया। इस प्रकार विद्या सभा के काम के कारण स्वर्गीय आनदशकरभाई के साथ वर्षो तक मेरा निजी सबध खूब बढ गया।

मेरे मन मे श्री आनदशकरभाई के प्रति गुरु के रूप मे आदर-बुद्धि और

उनकी विद्वत्ता के लिए सम्मान था। मै उनके शैक्षणिक विचारो के साथ सहमत था। इसलिए काम करने की इच्छा, साथ ही अहमदाबाद मे नये कालेज खोलकर गुजरात को शैक्षणिक क्षेत्र मे आगे बढाकर गुजरात युनिवर्सिटी-सबधी तथा अपनी आकाक्षा सिद्ध करने के प्रेरक तत्वो के कारण मैं स्व० आनदशकरभाई के साथ सर्वथा घुल-मिल गया था और विद्या सभा, ब्रह्मचारी की बगीची, अहमदाबाद एजुकेशन सोसाइटी आदि सस्थाओ द्वारा शैक्षणिक, सास्कृतिक एव साहित्यिक काम आगे बढाने मे मैं तथा मेरे साथी मित्र आनदशकरभाई की प्रेरणा और स्फूर्ति से खूब परिश्रम करते थे। सन १९४२ की ७ अप्रैल के दिन आनदशकर भाई देवलोक सिधारे। आनदशकरभाई का काम अधिकतर गुजरात मे और उत्तर भारत मे हुआ था, इसलिए महाराष्ट्र मे तो क्या, स्वय अहमदाबाद में रहनेवाले महाराष्ट्रियो तक को उनकी वास्तविक महत्ता का विशेष परिचय न था, इसलिए मराठी पाठको को उनका परिचय देने के लिए मैंने अहमदाबाद के महाराष्ट्र समाज के 'समाज पत्रिका' नामक पाक्षिक पत्र मे स्वर्गीय आनदशकरभाई के विषय में परिचयात्मक दो लेख लिखे थे, जो बाद में एक छोटी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किये गये थे।

मेरे ये लेख मूल मे मराठी में थे। स्व० आनदशकरभाई का मैंने जो मूल्याकन किया था, उसका परिचय गुजराती पाठको को भी कराने की भावना से मेरे तीसरे पुत्र चि० पुरुषोत्तम ऊर्फ अण्णा ने (जो उस समय सेठ चिमनलाल नगीनदास विद्यालय मे पढता था) स्वय अपनी इच्छा से उसका गुजराती अनुवाद किया और वह मुझे बताने के लिए मेरे पास ले आया। छोटे और उदीयमान पुत्र की ऐसी भावना और कृति देखकर कौन ऐसा पिता होगा जिसे आनद और सतोष न होगा ? मैंने पितृभाव से उससे कहा कि उसका अनुवाद सुदर है। इस पर उसने तुरत ही कहा—"तो फिर अपनी मराठी पुस्तिका की तरह इसे भी क्यो न आप छपवायें ?" इस प्रश्न मे मै विचार में पड गया और मन मे कुछ सकोच भी हुआ। मैं अपने पुत्र की कृति की प्रशसा अथवा वास्तव मे मूल्याकन कैसे कर सकता था ? पुत्र होने के कारण स्वभावत ही मेरा झुकाव तो उसके पक्ष मे ही हो सकता था। इस विषय मे किसी तटस्थ व्यक्ति का निर्णय देना ही उपयुक्त होता। मन

मे यह विचार आया, किंतु मैंने उसे प्रकट नही किया और चि० पुरुषोत्तम से कहा—'प्रसन्नता से छपवाऊंगा।" अपने बालक की आतरिक इच्छा की पूर्ति करने और उसे ऐसे प्रयत्नो में प्रोत्साहन देने के सिवा इस गुजराती अनुवाद छपवाने का और कोई उद्देश्य नही था।

यह पुस्तिका प्रकाशित हुई। उसी अवधि में चि० पुरुषोत्तम ने अपने हाई स्कूल के मासिक पत्र में 'मेरा आदर्श' शीर्षक एक लेख लिखा। उसकी आयु और ज्ञान की तुलना में यह लेख अच्छा कहा जा सकता था। किन्तु यह तो उसके पिता की राय थी।

इसके बाद मैं कस्तूरबा ट्रस्ट की बैठक के सिलसिले में वर्धा जाने लगा तो चि० पुरुषोत्तम ने मेरे पास आकर मासिक पत्र में अपने लेख और आनद-शंकरभाई विषयक गुजराती अनुवाद की एक-एक प्रति मुझे देते हुए कहा—"आप सेवाग्राम जा रहे हैं तो क्या मेरे ये लेख गाधीजी को अर्पण कर उनकी सम्मति प्राप्त करेंगे ?"

मैं बड़े असमंजस में पड गया। लडके का उत्साह भंग करना जितना अनुचित था, गांधीजी से यह कहकर कि इन लेखो पर अपनी सम्मति दीजिये, उनका समय लेना भी मुझे उतना ही अनुचित प्रतीत होता था। अपने पुत्र की आंतरिक इच्छा को मैं पूरा करूं, यह एक बात थी और उसके कारण गांधीजी का समय लेना दूसरी बात होती। इससे मुझे बड़ी दुविधा हुई, फिर भी उसकी दी हुई पुस्तिकाएं अपने साथ लेकर मैंने इतना ही कहा—"गांधीजी से बात करूंगा।"

वर्धा पहुंचने के बाद मेरे मन मे दूसरे तरह का विचार-चक्र शुरू हुआ। 'गांधीजी से कहूंगा' यह कहकर लड़के को समझा तो आया हू, किन्तु क्या गाधीजी से कहना उचित होगा ? उनके बहुमूल्य समय को नष्ट करना अथवा एक बालक का लेख पढने के लिए उन्हें कष्ट देना, यह कितनी बेहूदा बात होगी ? किन्तु दूसरी ओर यह भी विचार हुआ कि जान-अनजान में मैंने लडके को वचन दिया है कि गाधीजी से कहूंगा। मैं यह वचन-भग कैसे करूं ? यदि वचन-भंग करता हूं, तो इसके साथ असत्य भाषण का पाप भी लगनेवाला ही था। अहमदाबाद वापस लौटने पर लडका तो पूछेगा ही कि क्या गांधीजी को पुस्तकें दीं और उनकी सम्मति मागी ?

तब क्या मै उससे यह झूठ कहू कि "हा, दे दी" ? यदि मैंने पुस्तकें दी न हो और झूठ ही कह दिया हो, तो गाधीजी की सम्मति भी कहा से मिलनेवाली थी ? और यदि वह अपनी सम्मति न दें, तो बालक के मन मे गाधीजी के प्रति क्या भाव पैदा होगे ? अपनी एक दिक्कत बचाने के लिए मै इस निर्दोष बालक के मन मे गाधीजी के प्रति रोष या गलतफहमी पैदा होने की परिस्थिति पैदा करू, यह कितना बडा अक्षम्य पाप है ? इस प्रकार के विचारों के भवर मे मैं पड गया और अत मे यही निर्णय किया कि गाधीजी को ये पुस्तिकाए दे देनी चाहिए और उनसे लडके की ओर से सम्मति देने के लिए भी प्रार्थना करनी चाहिए।

इससे मैं बडा सकुचाता हुआ पुस्तकें लेकर गाधीजी के पास गया और उनके हाथ मे सौंपते हुए हसते हुए मैने कहा—"बापूजी, मेरा एक लडका स्कूल मे पढता है। उसने ये दो छोटी पुस्तकें आपको अर्पण करने के लिए दी हैं और उसकी इच्छा है कि आप इन्हे पढकर उसे अपनी सम्मति बतायें।" इतना कहने के बाद मैंने कहा—"बालक की इच्छा है, इसलिए पिता की तरह मुझे उसे सहारा देना चाहिए, किंतु इस प्रकार आपको इन पुस्तको को पढने का कष्ट देना और आपका समय लेना स्वय मुझे अनुचित लगता है और इसलिए मैंने आपसे प्रार्थना तो की है, लेकिन मन में बहुत लज्जित हू। घर पहुचने पर मुझे बालक से झूठ न बोलना पडे, इसी दृष्टि से मैंने यह बात कही है। इन्हे पढना-न-पढना और उन पर अपनी सम्मति देना-न-देना आपकी इच्छा की बात है। मैं आपको इतना ही विश्वास दिलाना चाहता हू कि आप जो कुछ भी करेंगे, उसका मुझ पर कुछ भी असर न होगा।"

बापूजी ने अपने सहज मधुर हास्य से ही इसका उत्तर दिया और मैं चल दिया। इसके बाद कस्तूरबा ट्रस्ट की बैठकों आदि का काम पूरा होने पर चौथे दिन मैं सेवाग्राम से वापस लौटते समय गाधीजी से मिलने गया। मेरी पत्नी भी मेरे साथ थी। "हम आज्ञा चाहते हैं। अभी शाम की ही गाडी से जाना चाहते हैं।" यह सुनकर गाधीजी ने अपनी गद्दी पर के कागजो मे से अपने हाथ का लिखा एक पत्र मेरे हाथ पर रखा और कहा—"यह पुरुषोत्तम को देना और कहना कि आनदशकरभाई-विषयक लेख

अभी पढ़ा नहीं है। समय मिलने पर उसे पढ़ूंगा और फिर अपनी सम्मति बताऊंगा।"

स्वभावतः ही मुझे प्रसन्नता हुई कि गांधीजी ने मेरे पुत्र की इच्छा पूरी की। गांधीजी के मन में बालकों के प्रति कितना स्नेह और सहानुभूति थी, इस छोटे से किस्से से उसकी कुछ कल्पना की जा सकती है। गांधीजी ने इस दिन—६ नवंबर १९४४ को—पुरुषोत्तम को देने के लिए जो पत्र मुझे दिया था, वह इस प्रकार था

"चि० पुरुषोत्तम,

तूने उत्तम और कठिन आदर्श पसंद किया है। ईश्वर तेरी सहायता करेंगे। किसी समय यहां आना।

बापू के आशीर्वाद"

खेद की बात इतनी ही है कि बापू के जीवन में पुरुषोत्तम सेवाग्राम न जा सका, लेकिन मैं आशा करता हूं कि कभी वह वहां जायगा अवश्य।

उसके लगभग दो मास बाद मेरे पास गांधीजी का २८ जनवरी १९४५ का यह कार्ड आया :

"भाई दादा,

आनंदशंकरभाई-विषयक तुम्हारा लेख कल पूरा कर सका। चि० पुरुषोत्तम का अनुवाद भी पसंद आया। तुम ऐसे भक्त हो, इसका पता तो तुम्हारी पुष्पांजलि पढ़ने पर ही लगा।

बापू के आशीर्वाद"

: ४३ :

बापू का आशीर्वाद

नवंबर १९४५ में कस्तूरबा ट्रस्ट की बैठक के लिए मैं सेवाग्राम गया हुआ था। संयोग से उन्हीं दिनों वहां मेरा जन्म-दिन आ गया। इसलिए सवेरे ही नहा-धोकर मैं बापू को प्रणाम करने उनकी कुटी पर गया। उस दिन उनका मौन था। इसलिए मैंने प्रणाम करने के बाद बिना उनके पूछे ही अपने इतने सवेरे ही वहां आने का कारण बताते हुए कहा—"आज मेरा

जन्म-दिन है, इसलिए आपको प्रणाम कर आपका आशीर्वाद लेने आया हू।" मैने इतना ही कहा था कि बापू ने मद हास्य करते हुए सहज ही सिर थपथपाकर तत्काल एक कागज का टुकडा लेकर उस पर लिखा—"सेवा के लिए १२५ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करना और सेवा मे वृद्धि करते ही रहना। यदि यह इच्छा करने मे मै अकेला ही रहू तो जिस प्रकार अकेला वृक्ष सूख जाता है, वही हाल मेरा भी होगा।"

यह पर्चा लिखकर अपने पास पडे फलो मे से उन्होने एक फल मेरे हाथ मे दिया और मधुर हास्य के साथ सिर थपथपाकर मुझे आशीर्वाद दिया।

इस छोटे से पर्चे मे कितने ही भाव और बाते प्रकट होती हैं

(१) "जीवित रहने की इच्छा करना" मे इच्छा शक्ति का दर्शन है। साथ ही उसका यह भी अर्थ है कि की हुई इच्छा को सफल करने के लिए सयमी जीवन बिताना—प्रकृति के नियमो का पालन करना।

(२) जीवित रहना—भोग-विलास के लिए नही, प्रत्युत सेवा के लिए। सेवा को ही जीवन-मत्र अथवा जीवन-लक्ष्य रखना।

(३) वृक्ष का उदाहरण देकर उन्होने यह भाव व्यक्त किया है कि "मै तुम्हे अपने साथी की तरह समझता हू।" सेवा कार्य मे साथ मे सगी-साथी हो तो सेवा अच्छी तरह और प्रभावकारी हो सकती है। इसमे सघ एव सामूहिक कार्य की भावना ओत-प्रोत है।

: ४४ :

पंढरपुर मंदिर में हरिजन-प्रवेश का प्रयत्न

मैंने मई १९४७ में अपने कुटुवियो के साथ श्री विठोवाजी के दर्शन करने के लिए पढरपुर, जिसे 'महाराष्ट्र का काशी' कहा जाता है, जाने का विचार किया था। उसी समय स्व० श्री साने गुरुजी विठोवा का मदिर हरिजनो के लिए खुला करवाने के लिए अथक परिश्रम कर रहे थे। पढरपुर का मदिर महाराष्ट्र के भागवत धर्म का सबसे बडा तीर्थ-स्थान है और सारे महाराष्ट्र से भारी सख्या मे लोग वहा सदा ही दर्शन करने के लिए जाते हैं। कई एक तो हर एकादशी को अपने गाव से पैदल यात्रा करके नियमित रूप से

पढरपुर दर्शनो के लिए जाते हैं। मराठी मे पढरपुर की यात्रा को 'वारी' कहते हैं और इस प्रकार नियमित जानेवाले यात्री 'वारकरी' कहलाते हैं। इन वारकरी लोगों में हर जाति के गरीव और अमीर, स्पृश्य और अस्पृश्य—सभी लोग होते हैं और भगवे रग की एक छोटी सी पताका कधे पर रखकर कवल, लोटा और पहने हुए वस्त्रों के साथ सारे रास्ते 'विट्ठल-विट्ठल' नाम का जप करते अथवा भजन गाते हुए ये प्रत्येक एकादशी को पढरपुर पहुचते है। इन वारियो में कार्तिकी और आषाढी एकादशी की वारी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं और इनमे महाराष्ट्र के कोने-कोने से और जुदा-जुदा भागो से वारकरी पढरपुर की ओर कूच करते हैं। ये वारियें लगभग छ सौ वर्षों से नियमित रूप से चली आ रही हैं। अपने गाव से निश्चित तिथि को चलकर, निश्चित गावो मे रात का पडाव कर, दूसरे दिन प्रात यह यात्रा आगे चालू होती है। ठहरने के गाव और उन गावों मे पहुचने के दिन और समय हर वर्ष के निश्चित ही होते हैं, और इस प्रकार जिस गाव में वारकरी सघ आता है, उसके स्वागत-सत्कार की व्यवस्था उस गाव के लोग करते हैं। वारकरियो की आवश्यकताए बहुत ही थोडी होती है। ये लोग गाव की सराय अथवा दूसरे ठिकाने में रात को पडे रहते हैं और गाव के लोगो की तरफ से रूखी रोटी और नमक-मिर्च जो कुछ भी इन्हे दिया जाय, वह खाकर 'विट्ठल' का नाम जपते हुए, भजन गाते हुए, आनद से प्रवास का समय विताते हैं। वारकरियो की आषाढ और कार्तिक मास की कूच में अग्र-स्थान का सम्मान अस्पृश्यो (महारो) को मिलता है, यह एक उल्लेखनीय वात है। किंतु अस्पृश्यों का मदिर मे प्रवेश नहीं होता था। मदिर की अगली सीढी तक ही वे जा पाते थे और वही खडे रहकर, दूर मदिर में खडे पाडुरग के दर्शन कर सकते थे। ऐसी प्रथा सैकडो वर्षों से चली आ रही थी।

गाधीजी के अस्पृश्यता-निवारण का आदोलन शुरू करने पर महाराष्ट्र के जिन कतिपय कार्यकर्ताओ के मन में यह वात जगी कि अस्पृश्यता सर्वथा निर्मूल होनी ही चाहिए, स्व० साने गुरुजी उनमें अग्रणी थे। उन्होने पढरपुर का मदिर अस्पृश्यो के लिए खुला करवाने का बीडा उठाया। इसका एक मुख्य कारण यह था कि श्री विठोवा का मदिर हरिजनो के लिए खुल जाने मे अस्पृश्यता-निवारण का काम तेजी से वढ सकता था।

सन १६३८ मे बबई की काग्रेस-सरकार ने हरिजनो के मदिर-प्रवेश के सबध मे एक कानून बनाया था। किंतु ऐसे काम केवल कानून से तो हो नही सकते—लोकमत की जागृति ही मुख्य उपाय होता है। १६३८ का कानून यह था कि उसके अनुसार अगर किसी भी मदिर के ट्रस्टी अस्पृश्यो के लिए मदिर को खोलने का प्रस्ताव करे, तो उस प्रस्ताव से जिला अदालत को सूचित करें, और वह अदालत यह विज्ञप्ति प्रकशित करे कि अगर किसीको इस प्रस्ताव पर आपत्ति हो, तो वह तीन महीने के भीतर उसकी सूचना दे और यदि किसीकी आपत्ति हो, तो उसकी सुनवाई करके अत मे यदि जिला अदालत हरिजनो के लिए मदिर खोलने की आज्ञा दे दे, तो मदिर अछूतो के लिए खुल जायगा। इस कानून से कुछ सहारा तो अवश्य हुआ, किंतु लोकमत के अभाव मे अस्पृश्यता-निवारण के प्रत्यक्ष काम मे इस कानून से कोई ठोस परिणाम सामने नही आया।

अत १६४२-४४ के 'भारत छोडो' सघर्ष से मुक्त होते ही श्री साने गुरुजी ने अस्पृश्यता-निवारण का काम हाथ मे लिया। श्री साने गुरुजी एक प्रभावशाली, चरित्रशील व प्रखर देशभक्त और साहित्यकार थे। उन्होने अनेक पुस्तकें तथा लेख लिखकर महाराष्ट्र के नवयुवको के हृदयो पर अधिकार जमा लिया था और इसलिए बडे पैमाने पर अस्पृश्यता का आदोलन खडा कर सकने की उनमे शक्ति थी। इस आदोलन के सिलसिले मे उन्होने अपनी मडली के साथ लगभग छ महीने तक समूचे महाराष्ट्र की पैदल यात्रा की। गाव-गाव वह घूमे और 'अस्पृश्यता हिंदू धर्म का एक कलक है, वह दूर होना ही चाहिए', यह मत्र जनता को दिया। साने गुरुजी के प्रचार की पद्धति और कला कुछ अजीब ही थी। उन्होने एक ऐसी मडली, जो नाटक खेल सकती थी, गीत और भजन गा सकती थी और महाराष्ट्र मे प्रचलित एक प्रकार के लोकगीत 'पोवाडे' गा सकती थी, एकत्र कर प्रवास मे अपने साथ रखी और स्वय अस्पृश्यता सबधी छोटे-छोटे नाटक, भाषण, पोवाडे आदि लिखकर, जहा-जहा इनकी मडली का मुकाम होता, वहा-वहा वह भजन, पोवाडे, नाटक आदि के कार्यक्रम रखते और इस प्रकार वह अस्पृश्यता-निवारण का मत्र सामान्य जनता के हृदयो मे फूकते। इस काम के लिए उन्होने लगभग पाच लाख रुपये इकट्ठे किये। वह भी उन्हो

विचित्र प्रकार से ही इकट्ठे किये। किन्ही धनिको से बडी रकम लेकर नही, वरन सभा-स्थान पर श्रोता लोग प्रसन्नतापूर्वक पाई-पैसा जो कुछ भी देते, वह लेकर उन्होने यह रकम एकत्र की थी। उनके कार्यक्रमो मे अपने श्रम से काम करनेवाले बहुत से स्वयसेवक सम्मिलित हुए थे और इस प्रकार उन्होने अपना काम आगे बढाया था। सब कोई यह बात जानते होगे कि गाधीजी प्रति दिन सायकाल की प्रार्थना के बाद हरिजनो के लिए झोली फिराते थे और इससे प्रति वर्ष लगभग दो लाख की रकम उन्हे मिलती थी। लोकहित के लिए किये जानेवाले कार्यो की जड लोगो के हृदयो मे ही बैठाई जा सकती है। यदि लोग समझ लें और समझकर स्वय उस काम को उठालें, तो ऐसी कोई चीज नही जिसके लिए पैसे की कमी रहे। अपने सार्वजनिक कामो मे हम लोग लोक-गगा मे डुबकी नही लगाते और काम करने की जल्दी मे बाहर से पैसे प्राप्त कर पैसे के बल पर प्रचार करना चाहते हैं और इसीलिए हम जितनी चाहते हैं, उतनी प्रगति कर नही पाते। अपने कार्यक्रमो की जड लोक-हृदयो में गहरी नही बैठती।

इस प्रकार लगभग छ महीने तक समूचे महाराष्ट्र का प्रवास कर श्री साने गुरुजी ने महाराष्ट्र को उद्वेलित कर दिया और सामाजिक समता के विचारो की ऐसी प्रचड अग्नि प्रज्वलित कर दी कि जिसमे अस्पृश्यता भस्मीभूत हो जाती। इसके बाद उन्होने पढरपुर के विट्ठल मदिर के ट्रस्टियो को चेतावनी दी कि यदि अमुक दिन तक आप अस्पृश्यो के लिए मदिर के द्वार खुले न कर देंगे, तो "मै पढरपुर पहुचकर श्री विठोबा के सान्निध्य मे उपवास आरभ करूगा और जब तक आप द्वार खुले न कर दे या फिर जब तक मै मर न जाऊ, यह उपवास जारी रहेगा।"

श्री साने गुरुजी के उपवास के समाचार से लगभग समूचे महाराष्ट्र मे खलबली मच गई। सबको यह विश्वास था कि श्री साने गुरुजी जो कहेगे वही करके दिखावेंगे। और इसलिए जब हमारे कार्यक्रम के अनुसार पढरपुर जाने का समय आया, तो मेरे पास मेरे साले श्री गुर्जर का बबई से पत्र आया—"श्री साने गुरुजी के उपवास करने की बहुत सभावना है और ऐसा होने पर एक काग्रेसी के रूप मे आपकी स्थिति बडी पेचीदा हो जायगी। इसलिए पहले से कार्यक्रम निश्चित होने पर भी मौजूदा परिस्थिति

मे आपका वहा जाना ठीक होगा या नही, इस पर विचार कर लीजिये।" मैंने इसके उत्तर मे उन्हे लिखा कि "कार्यक्रम के अनुसार काम करने का मेरा निश्चय है। यदि उस समय श्री साने गुरुजी का उपवास आरभ हो गया होगा और वह जारी होगा, तो श्री विट्ठल जो सुझायेगे, उसीके अनुसार आचरण करूगा।" इस यात्रा मे मेरे कुछ और सबधी भी मेरे साथ पढरपुर जानेवाले थे।

निश्चित कार्यक्रम के अनुसार हम लोग ५ मई १९४७ को प्रात मोटर से पढरपुर पहुचे। वहा के एक प्रमुख काग्रेस कार्यकर्ता और बबई विधान सभा के सदस्य श्री बाबूराव जोशी ने वहा हमारे ठहरने आदि की व्यवस्था की थी। हमारे वहा पहुचने के समय श्री साने गुरुजी का उपवास आरभ हो चुका था। गाव के निकट एक विशेष सार्वजनिक स्थान मे उनका पडाव था। महाराष्ट्र हरिजन सेवक सघ के अध्यक्ष श्री काकासाहब बर्वे[1] भी वहा जाकर ठहरे थे। अनेक स्वयसेवक श्री साने गुरुजी के निवास-स्थान पर हर प्रकार की व्यवस्था करने के लिए सेवा भाव से परिश्रम कर रहे थे। जब हम वहा पहुचे तो श्री बाबूराव जोशी ने हमे वहा की परिस्थिति से परिचित कराया। उसी समय से श्री साने गुरुजी का उपवास किस प्रकार समाप्त हो सकता है, इस विषय पर मेरे मस्तिष्क मे विचार घूमने लगे।

मेरे सामने निजी प्रश्न यह था कि सब सगे-सबधियो के साथ इतनी दूर पढरपुर आकर ऐसे समय, जबकि श्री साने गुरुजी उपवास कर रहे हो, दर्शनो के लिए मदिर में जाना चाहिए या नही ? मैंने तो अपने मन के साथ तत्काल ही इसका निर्णय कर लिया था। मैंने अपनी पत्नी को एक ओर बुलाकर कहा—"मैं विठोबा के दर्शन तो अवश्य करूगा, किंतु मदिर के अदर जाकर नही, वरन जहा तक अस्पृश्य जा सकते हैं, वही तक जाकर। किंतु तुममे से किसीको—या सबको—मदिर मे जाकर दर्शन करना हो, तो तुम खुशी से वैसा कर सकती हो। तुम्हारे हृदय को यदि ऐसा प्रतीत हो कि ईश्वर तो सर्वत्र हैं, अमुक सीमित स्थान मे ही नही, और विशेपकर मदिर मे ही वह

---

[1] श्री का० सा० बर्वे महाराष्ट्र हरिजन सेवक संघ के अध्यक्ष और प्रखर कार्यकर्ता थे। ९ मार्च १९५४ को उनका स्वर्गवास हुआ।

निवास नही करता, प्रत्युत भक्त के हृदय में बसता है, तो तुम भी मेरे साथ रहकर उसके दर्शन कर सकती हो। किंतु तुम्हे यदि जरा भी ऐसा लगता हो कि भगवान के दर्शन तो मदिर में जाकर ही करने से तुम्हारे मन को शाति मिलेगी, तो तुम खुशी से मदिर में जाओ; किंतु यह आशा न रखना कि मैं तुम्हारे साथ मदिर में जाऊगा। मैं तुमसे यह अपेक्षा नहीं रखता कि तुम मेरे साथ रहो। सब कोई अपनी-अपनी अतरात्मा की वाणी का सम्मान कर जो करना हो, वह कर सकता है।"

मैं मानता हूं कि इससे मेरी पत्नी और सबधियो को सतोष हुआ और मेरे लिए कोई निजी समस्या हल करनी बाकी नही रही। इस प्रकार मार्ग निकालने का एक कारण और भी था। मेरी यह दृढ मान्यता है कि कोई भी वाछित सुधार अथवा परिवर्तन, चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक, जोर-जबरदस्ती से स्थायी रूप से टिक नही सकते। यदि किसी भी प्रकार का दबाव या जबरदस्ती हो, तो लोग ऊपरी तौर पर भले ही उस सुधार को स्वीकार करलें, किंतु भीतर से वे उसका विरोध ही करते रहेंगे। जोर-जबरदस्ती से समाज मे क्राति होने के बजाय क्राति रुकती है। इतना ही नहीं, रूढिगत विचार अधिक जोर से जड पकड जाते है। अहिंसा के बिना जनतत्र अथवा लोकमत विकसित नही होता। यह बात सब विषयो मे और सदा के लिए सत्य है। एक ग्रथकार ने लिखा है—"The greater the violence the lesser the revolution" अर्थात 'जितनी अधिक हिंसा होगी, क्राति उतनी ही कम होगी।' इस समय मेरे लडके भी हमारी मडली में हमारे साथ थे।

चंद्रभागा नदी में स्नान कर श्री पुडलिकजी के दर्शन कर हम विठोबा के मदिर के मुख्य प्रवेश-द्वार के सामने आये। वहा मदिर मे चढने की पहली सीढी तक ही अस्पृश्य लोग जा सकते थे। महाराष्ट्र मे सैकडों वर्ष पूर्व अस्पृश्य-जाति के चोखामेला नामक एक महान सत हो गये हैं। उनकी समाधि के रूप में यह पहली सीढी मानी जाती है और एक ऐसी भी दत-कथा है कि सत चोखामेला की यह इच्छा थी कि पाडुरंग का जो कोई भक्त दर्शन के लिए जाय, वह उनके शरीर पर पैर रखकर जाय, जिससे भक्त की चरण-रज से भी वह सदा पवित्रता प्राप्त करते रहें। मैं इस सीढी के

सामने ही रुक गया। चोखामेला की चाहे जो इच्छा हो और हजारो-लाखो भक्त भले ही उस सीढी पर होकर भीतर प्रवेश करे, किंतु उस स्थान पर चोखामेला की मानसिक मूर्ति मेरी आखो के सामने आकर खडी हो गई। ऐसे सत और भक्त पुरुष को हम पैरो से किस तरह छुए, यह विचार मन में उठते ही उस सीढी पर पैर रखने की मुझे हिम्मत न हुई। फिर उस सीढी से आगे तो मुझे जाना ही नही था। मै उस सीढी के नीचे ही खडा रहा और मेरे साथ ही मेरे लडके भी मेरे कुछ भी कहे बिना ही अपनी मा और मामा की इच्छा के विरुद्ध, मेरे साथ ही खडे रहे। मेरे लडको ने अपने व्यवहार से इन गुरुजनो को नाराज किया, इससे मुझे जरा दुख तो हुआ, किंतु मन को यह सतोप भी हुआ कि यह उगती पीढी तो मेरे साथ ही है।

इस समय मैं दिल्ली की केंद्रीय विधान सभा का निर्वाचित अध्यक्ष था और इसलिए सार्वजनिक जीवन की अपनी प्रतिष्ठा के अलावा कुछ हद तक शासनिक प्रतिष्ठा भी मुझे प्राप्त थी। दुर्भाग्य से भारत में यह विचित्रता है कि यहा व्यक्ति के चरित्र और सेवा-भाव की अपेक्षा राजनैतिक सत्ता का मूल्य अधिक आका जाता है ! इसलिए मदिर से पुजारी मेरा सम्मान करने के लिए हार, तुर्रे, नारियल आदि लेकर आगे आये और उनका यह आग्रह हुआ कि भले ही मैं मदिर मे न जाऊ, फिर भी सीढी पर चढकर उनका सत्कार अवश्य स्वीकार करू। मैंने नम्रतापूर्वक किंतु दृढता के साथ उनकी इच्छानुसार करने से इन्कार किया और कहा—"जब तक आप लोग अस्पृश्यो को ऊपर आने नही देते, तब तक मेरा ऊपर आना उचित नही और विशेपकर मैं ऐसा कोई आचरण नही करना चाहता जिससे साने गुरुजी के उपवास की तपस्या मे विक्षेप हो। आपको मेरा स्वागत करना हो तो पहले साने गुरुजी का कीजिये। आप मुझे केंद्रीय विधान सभा के अध्यक्ष के रूप मे न देखें, प्रत्युत एक सच्चे हिंदू के रूप मे, हिंदू धर्म की प्रतिष्ठा की रक्षा करनेवाले के रूप में देखे।" मदिर के पुजारियो ने नीचे ही आकर मुझे हार और तुर्रे पहनाये और प्रसाद का नारियल दिया। मेरे सबवी अदर जाकर दर्शन करके आ गये।

: ४५ :

सलाह-मशविरा और मंत्रणाएं

आगे किस प्रकार काम किया जाय, इस पर दोपहर को भोजन के बाद विचार हुआ। श्री काकासाहब बर्वे बबई सरकार के कानून की किताब लकर मुझसे मिले। मैंने उनसे कानूनी स्थिति के सबंध मे चर्चा की। कानूनी असुविधा यह थी कि पुजारी, मदिर के ट्रस्टी होने के कारण ट्रस्ट की अवहेलना किये बिना अस्पृश्यो के लिए मदिर खुला कर नही सकते थे। किंतु बबई सरकार के १९३८ के कानून के अनुसार यह युक्ति थी कि हर कोई मदिर का ट्रस्टी उचित प्रस्ताव करके जिला जज की स्वीकृति प्राप्त कर अस्पृश्यो के लिए मदिर खुला कर सकता था। इसलिए स्थिति यह थी कि अगर इस कानून के अनुसार पढरपुर के मदिर के ट्रस्टी प्रस्ताव पास कर दें, तो रास्ता निकल जाय और साने गुरुजी का उपवास खुलवाया जा सकता है।

इस अवधि मे अस्पृश्यो के लिए मदिर खोलना अनिवार्य बनानेवाले कानून का मस्विदा बबई विधान सभा में पेश किया जा चुका था। चार-छ महीनो में उस कानून के पास हो जाने पर मदिर के ट्रस्टियो के प्रस्ताव की आवश्यकता नही रहती और जिला अदालत की स्वीकृति आदि की झझट भी मिट जाती। लेकिन कइयों को इस बात की शका थी कि साने गुरुजी अपने समाजवादी दल को पुष्ट करने की दृष्टि से उपवास के लिए उतारू होकर एक ढोंग (स्टट) करना चाहते हैं। काकासाहब बर्वे ने आरभ में ही बताया कि उन्होंने महाराष्ट्र हरिजन सेवक सघ के अध्यक्ष के रूप मे साने गुरुजी के प्रचार-प्रवास में आरभ में साथ दिया था। उस समय उन्हे भी यह आशका थी कि कही यह प्रवृत्ति समाजवादी राजनीति को पुष्टि देने के लिए ही न हो। किंतु साने गुरुजी के साथ प्रवास में एकाध सप्ताह घूमने के बाद उनको यह विश्वास हो गया था कि इस प्रचार मे कुछ भी राजनीति नहीं है। प्रत्युत इसमें मनुष्यो में पारस्परिक समता और अस्पृश्यों के प्रति लगन की भावना ही थी, और इसलिए छ महीने पूरे प्रवास में काका-साहब स्वय भी साने गुरुजी के साथ ही रहे।

इस परिस्थिति में साने गुरुजी के उपवास का कारण, अर्थात हरिजनों के लिए हरिजन-प्रवेश-निषेध, को तत्काल दूर करने के बजाय सभी साने गुरुजी को यही समझाने में जुट गये कि चार-छः महीने में कानून से ही जब मंदिर-प्रवेश होनेवाला है, तब आपको उपवास छोड़ देना चाहिए। गांधीजी के पास से भी इसी आशय का संदेश प्राप्त करके साने गुरुजी के पास पहुंचाया गया। साने गुरुजी ने इसके उत्तर में अपना कथन नम्रता-पूर्वक बताते हुए गांधीजी को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने अपनी भूमिका स्पष्ट करदी। गांधीजी की सलाह के अनुसार न चल सकने पर हृदय से क्षमा मांगी और अपने उपवास की सफलता के लिए गांधीजी का आशीर्वाद मांगा।

यह सब देखकर मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ कि गांधीजी को साने गुरुजी के उद्देश्य और उनके कार्य की पूरी जानकारी नहीं है। उनके सामने जो बातें रखी गई थीं, उन्हीके आधार पर उन्होंने साने गुरुजी को उपवास छोड़ने की सलाह दी थी। गांधीजी की सलाह के कारण साने गुरुजी के मार्ग में एक भारी बाधा उपस्थित हो गई।

सब बातों का विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि गांधीजी की ओर से कोई मार्ग-दर्शन मिले बिना परिस्थिति का संभलना असंभव है। इस बीच मैंने श्री काकासाहब बर्वे के सामने निम्नलिखित दो मुद्दे रखे

(१) मौजूदा कानून के अनुसार जो काम—यानी हरिजनों के लिए एकदम मंदिर खुला करना—ट्रस्टी कर नहीं सकते, तो उसके करवाने का आग्रह साने गुरुजी किस तरह कर सकते हैं? इसलिए हमें इस संबंध में साने गुरुजी को समझाना चाहिए और मेरा विश्वास था कि हमारी यह बात साने गुरुजी स्वीकार कर लेंगे। इसलिए गुरुजी को अस्पृश्यों के लिए मंदिर एकदम खुला करने का आग्रह नहीं रखना चाहिए बल्कि उन्हें अपनी मांग इस हद तक मर्यादित करनी चाहिए कि ट्रस्टी लोग इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार करें कि वे मंदिर खुला करने के लिए तैयार हैं, और फिर उनके इस प्रस्ताव पर, कानून के अनुसार जिला अदालत की स्वीकृति मांगने की अर्जी दी जाय।

(२) साथ-ही-साथ मंदिर के पुजारियों से मिलकर उनसे इस आशय

का प्रस्ताव पास करवाने का प्रयास किया जाय कि उन्हे हरिजनो का मदिर-प्रवेश स्वीकार है।

इस पर काकासाहब बर्वे और वहा के स्थानीय काग्रेस कार्यकर्ताओं ने, जिनमे पुजारियो मे के ही एक और प्रमुख काग्रेस कार्यकर्ता श्री बबनराव वडवे थे, पुजारियो की एक सभा बुलाई। मै उसमें शामिल हुआ। उसमे खूब चर्चा हुई। वहा मुझे यह दिखाई दिया कि पुजारी लोग भले ही धर्म का नाम आगे रखते हो, किंतु उनका असली भय तो अपनी आर्थिक लाभ-हानि का था। यदि अपनी ओर से वे अस्पृश्यो को मदिर-प्रवेश करने देते है, तो सनातनी भक्त उनसे अप्रसन्न हो जायगे और इससे उनकी सवर्णो से होनेवाली प्राप्ति बद हो जायगी। किंतु दलीलो मे वे यह बात स्पष्ट नही करते थे और धर्म का ही नाम आगे रखते थे। इस विषय मे उनके मुखियाओ और मेरे बीच निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए

मैं—"तीन महीने बाद कानून तो बननेवाला है ही, तब समय और परिस्थिति को देखकर आप हरिजनो का मदिर-प्रवेश क्यो नही स्वीकार कर लेते ?"

पुजारी—"कानून बनेगा तब देखा जायगा, किंतु अभी से हम क्यो स्वीकार करें ?"

मैं—"क्या आपको कानून बनने के सबध मे कोई सदेह है ? क्या आप यह समझते है कि कानून शायद न बन पाये ?"

पुजारी—"नही, हमें कोई सदेह नही है। विधान सभा मे काग्रेसियो का बहुमत है। इसलिए इसमें कोई शका नहीं है, कानून तो बनने ही वाला है।"

मैं—"तब कानून बन जाने पर आप उसका पालन तो करेंगे ही न ?"

पुजारी—"वह तो किये बिना छुटकारा कहा !"

मैं—"आप ऐसा कैसे कह सकते हैं ? आप तो इसे धर्म से सबधित बात समझते है और कहते है कि धर्म आपको प्राणो के समान प्रिय है। ऐसी दशा मे कानून बन जाने पर आप उसका विरोध क्यो न करें ? क्या धर्म का त्याग कर जीने की अपेक्षा धर्म के कारण जो सकट आये, उसे सहन करना उचित प्रतीत नही होता ?"

पुजारी—"किंतु हममें इतनी शक्ति नही है।"

मैं—"तब तो आपके लिए सबके साथ सद्भाव रखने और सभ्यता का मार्ग तो यही है कि जो वस्तु आनेवाली है, जिसे आप टाल नही सकते, जिसका आप विरोध कर नही सकते, जिसके लिए कष्ट सहने के लिए आप तैयार नही, उसे अभी से मानकर परस्पर प्रेम-भाव प्रदर्शित करें। क्या यह अधिक व्यावहारिक और बुद्धिमत्तापूर्ण मार्ग नही है ?"

मेरी इस दलील का उन पर कोई अधिक असर हुआ हो, ऐसा मुझे प्रतीत नही हुआ। नौजवान तो सब मेरे पक्ष में थे, किंतु बूढे पुजारियो का विरोध था, इसलिए सभा बिना किसी निर्णय के विसर्जित हो गई।

इसके बाद कुछ नौजवान पुजारियो ने आकर मुझे बताया कि वे फिर सबको इकट्ठा कर रहे हैं और उन्हे आशा है कि शायद वे सफल हो जाय। उनकी यह सभा रात के लगभग नौ बजे से प्रात दो बजे तक चली। इस बीच कई बार मेरे पास आकर मेरे साथ विचारो का आदान-प्रदान होता रहा। किंतु अत में प्रात लगभग दो बजे सदेश आया कि उनके सलाह-मशविरे का कोई फल निकलने की आशा नही मालूम होती। पुजारियो की कुल सख्या ८३ थी और इसलिए बहुमत प्राप्त करने के लिए हमे हर व्यक्ति की सम्मति की आवश्यकता थी। हमारे पक्ष में ३०-३२ तक मत थे, किंतु उस सख्या का ४२ तक पहुचना जरा भी सभव न था और इसलिए वह मत्रणा वही भग हो गई।

: ४६ :

साने गुरुजी का पारणा-ग्रहण

दूसरे दिन, ६ मई को, मैं पूना जानेवाला था। इसलिए जल्दी उठकर श्री साने गुरुजी से मिलने गया। पढरपुर जाने के बाद मेरी उनसे यह पहली ही मुलाकात थी। इस बीच जो चर्चाए और प्रयास चल रहे थे, श्री काकासाहब बर्वे उनसे उन्हे परिचित रख रहे थे। मैंने श्री साने गुरुजी से मिलते ही सबसे पहले कानून की स्थिति उन्हे बतलाई और कहा कि उन्हे अपनी माग पूर्व-सूचनानुसार मर्यादित करनी चाहिए। मेरी बात उनकी समझ में आ गई

और उन्होंने यह बात तत्काल स्वीकार कर ली।

इसके बाद मैंने वही से गाधीजी को एक लबा तार दिल्ली के पते पर भेजा और एक पत्र भी लिखा[१]। उसमे सारी स्थिति बतलाई और साथ ही उनके उपवास छोडने की सलाह देने से उत्पन्न कठिनाइयो का भी उल्लेख किया। तार मे लिखा—"मेरी धारणा है कि आप नया कानून बनने तक प्रतीक्षा करना पसद न करते होगे और मदिर के द्वार तुरत खुलना आपको पसद होगा। मदिर के ट्रस्टियो को कोई तार भेजें तो उसकी एक प्रति पढरपुर के पते पर श्री काकासाहब वर्वे को भी भिजवा दें।" और पत्र में सारा हाल सिलसिलेवार लिखा।

इसी समय पुजारियो के वकील वहा आ पहुचे। वह हिंदू सभावादी थे। हिंदू धर्म की और हिंदू सगठन की दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण की बात उन्होंने आवश्यक रूप से स्वीकार की, किंतु इसके साथ ही यह मुद्दा उठाया कि मदिर खुला करने से अगर बबई हाईकोर्ट ने मदिर की व्यवस्था के लिए जो योजना बनाई थी, उसको बाधा पहुचे, तो यह कैसे किया जा सकता है? बबई हाईकोर्ट की योजना का मुझे पहले से कुछ भी पता न था और उस विषय पर विचार करने का उस समय मेरे पास समय भी न था। ७ तारीख को पूना मे कस्तूरबा स्मारक ट्रस्ट की बैठक थी, उसमे शामिल होने के लिए ६ ता० को मैं पढरपुर से मोटर द्वारा पूना पहुचा।

दूसरे दिन, ७ मई को, कस्तूरबा स्मारक ट्रस्ट की बैठक मे पूज्य ठक्कर बापा मिले। मैंने उन्हे पढरपुर का हाल बताया और गाधीजी के उत्तर की प्रतीक्षा की बात कही। उसी दिन शाम को पूना मे मुझे गाधीजी का तार मिला—"साने गुरुजी के सबध में श्री वर्वे को तार भेजा है। श्री सिद्दप्पा बसाप्पा भी उपवास पर हैं, उनके सबध मे कुछ जानकारी नहीं है, पता लगाना।" पढरपुर भी उन्होंने तार दिया—"श्री मावलकर की सलाह के अनुसार काम करना।" गाधीजी के पढरपुर को भेजे तार का असर अच्छा हुआ और वहा मदिर के ट्रस्टी गाधीजी की आड लेकर श्री साने गुरुजी का जो दोष निकालते थे, वह वातावरण बदल गया।

---

[१] देखिये परिशिष्ट ३

मैं १० मई को बडे सवेरे पूना से पढरपुर जाने को तैयार हुआ। बापा ने मेरे साथ मोटर में पढरपुर जाने का आग्रह किया, इसलिए उन्हे भी साथ ले लिया। इनके सिवा श्री रावसाहब पटवर्धन, औंध के श्री आपासाहब पत और मेरा पुत्र पुरुषोत्तम, ये सब भी मेरे साथ थे। लगभग साढे नौ बजे हम पढरपुर पहुचे और तत्काल काम में जुट गये। यह दिन हमारे लिए बडा भाग्यशाली निकला। आशा और निराशा के बीच झूलते-झूलते सायकाल तक बादल बिखर गये और वाञ्छित परिणाम निकल आया। सचमुच, उस दिन का मेरा अनुभव यही बताता है कि निःस्वार्थ वृत्ति से हाथ मे लिये हुए शुभ कार्य मे अनेक बाधाए आने पर भी अत में ईश्वर का साथ कार्य को यशस्वी बनाता है। मदिर की व्यवस्था सबधी हाईकोर्ट की योजना मैंने पहली बार ही देखी। उस योजना के अनुसार, पुजारी-मडल की ओर से प्रति-वर्ष पाच व्यक्ति चुने जाकर उनका एक व्यवस्था मडल बनाने की व्यवस्था थी। इस प्रकार एक तरह से हमारा काम हलका हो गया। तिरासी (८३) व्यक्तियों को समझाने की आवश्यकता न रहकर पाच व्यक्तियो के साथ ही चर्चा करनी रह गई।

इन पाच में से भी तीन तो हमारा पक्ष लेनेवाले थे, इसलिए हमें बहुमत मिलना तो निश्चित ही था, किंतु एक बडी बाधा हमारे मार्ग मे थी—जैसा सब जगह होता है, यहा भी पुजारियो मे पक्ष-विपक्ष थे। हाईकोर्ट की योजना के अनुसार चुनकर आनेवाले चार जनों का चुनाव हो चुका था। किंतु इन चार व्यक्तियो के मिलकर पाचवे व्यक्ति को चुनने का काम बाकी था। पिछले वर्ष की समिति के अध्यक्ष इन चुने हुए सदस्यों के बहुमत के विरोधी पक्ष के होने के कारण पाचवें का चुनाव करने के लिए चुने हुए चार सदस्यो की बैठक ही नही बुलाते थे। इससे व्यवस्था मडल पूरा ही नही हो सकता था और उसके हुए बिना काम आगे बढ नही सकता।

इसीलिए मैंने पिछले वर्ष के उन अध्यक्ष महोदय को बुलाकर उन्हें समझाने का प्रयत्न किया, किंतु उन्होंने मेरी बात मानने से इन्कार कर दिया। इसलिए इस विषय में फिर कानूनी बारीकिया खोज निकालकर काम आगे बढाना पडा। निर्वाचित सदस्यो की ओर से उन्हें सूचना भिजवाई गई कि आप निर्वाचित चार सदस्यों की सभा बुलाने के लिए [illegible]

करते है। यह ठीक नही है। या तो आप वैठक बुलाने की सूचना निकालें, नही तो हम चारो इकट्ठे होकर पाचवें को चुन लेंगे और समिति की सख्या पूरी कर लेंगे। आपका वर्ष पूरा हो चुका है, अत अब आपको व्यवस्था विषयक किसी भी प्रकार का अधिकार नही रहा। अगर आप नियम विरुद्ध अपनी मनमानी चलाकर वैठक नही बुलाते है, तो नियमानुसार अपना उत्तर-दायित्व अप पार होगा।

अब उन्हे विश्वास हो गया कि उनका विरोध एक ओर रखकर काम आगे वढाया जानेवाला है। इसलिए वह मुझसे मिलने आये। उनको यह डर था कि लोग मदिर को अस्पृश्यों के लिए खुला करने का प्रस्ताव पास करना चाहते हैं और यदि वह पाचवें को चुनने के लिए वैठक बुलाते हैं, तो उनके साथी कहेंगे कि उन्होंने प्रस्ताव को अपना सहारा दिया। वह इस स्थिति से अपना छुटकारा चाहते थे। मैंने उन्हे वताया कि "आपको अस्पृश्यों के प्रवेश-सवधी प्रस्ताव पास करवाने के लिए वैठक नही वुलानी है। आप तो ट्रस्टी मडल के लिए पाचवा सदस्य चुनने के लिए ही वैठक बुलाते हे। इसलिए आप जो वैठक वुलाते है, उसका अस्पृश्यो के मदिर-प्रवेश के साथ कोई सवध नही है। पाचवा सदस्य चुने जाने के वाद नया ट्रस्टी मडल अपनी वैठक बुलाकर, अस्पृश्यो-सवधी प्रस्ताव करे, तो उसमें आपकी क्या जिम्मे-दारी है? फिर, वर्ष समाप्त होते ही, यथासभव जल्दी-से-जल्दी पाचवें सदस्य का चुनाव करवाना कायदे के अनुसार आपका कर्तव्य है। यदि आप उस कर्तव्य का पालन नही करते तो हाईकोर्ट की योजना का उल्लघन करने की जिम्मेदारी आप पर आती है। यह विचार भी आपने किया है?"

यह बात उनकी समझ में आ गई। उन्होने सभा बुलाई। पाचवें सदस्य का चुनाव हुआ और यह पाचवे भाई अस्पृश्यो के मदिर-प्रवेश के पक्ष में थे। इस प्रकार ट्रस्टी मडल मे चार के विरुद्ध एक, इस प्रकार उसकी रचना हुई। इस वैठक मे अस्पृश्यो के प्रवेश करने का प्रश्न आया तो अकेले बचे हुए सदस्य ने विचार किया कि जब चारो ट्रस्टी अस्पृश्यों के प्रवेश करने के प्रस्ताव के पक्ष में है, तो मैं अकेला ही क्यो विरोध में रहूं? इस प्रकार शाम को ट्रस्टी मडल ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास किया कि श्री विठोवा का मदिर अस्पृश्यों के लिए खुला कर दिया जाय।

यह हो जाने के वाद भी इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने का वहुत सा काम मेरे लिए बच गया था। जिला अदालत को दी जानेवाली अर्जी और उसकी पुष्टि मे दिये जानेवाले प्रमाण-पत्र आदि सब तैयार करवा-कर उन पर ट्रस्टियो के और दूसरो के हस्ताक्षर करवाने का यह सब काम लगभग सात वजे समाप्त हुआ।

हरिजनो के लिए मदिर खुला करने के सबध मे कायदे के अनुसार ट्रस्टी-मडल की सम्मति मिल जाने की वात तत्काल सारे नगर मे फैल गई और उसकी खुशी मे रात को नौ वजे नगर मे सार्वजनिक सभा की जाने की डोडी पिट गई। लोगो मे जो उत्साह दिखाई दे रहा था वह अपूर्व था।

सारा मुख्य काम निपटाने के वाद हमने विचार किया कि श्री साने गुरु-जी के पास जाने के पहले हमे हरिजनो के प्रतिनिधि के रूप मे मदिर मे प्रवेश करके देव-दर्शन करके फिर उनसे मिलना चाहिए। उस समय ट्रस्टी-मडल के अध्यक्ष श्रीयुत ववनराव वडवे ने हमे यह वडा व्यावहारिक और चतुराई भरा सुझाव दिया कि देव-दर्शन से पहले हम मदिर मे ट्रस्टी-मडल का जो वडा दफ्तर है, उसमे जाय। वहा श्री ववनराव ट्रस्टी-मडल के अध्यक्ष के रूप मे हमे तथा सब लोगो को ट्रस्टियो का प्रस्ताव पढकर सुनाये। फिर वह हमारा आभार प्रदर्शित करे और उसके वाद हम दर्शन करने जाय। इस सुझाव मे यह व्यवहार-कुशलता थी कि पीछे से जिला अदालत मे उस प्रस्ताव की सुनवाई होने पर किसी भी पुजारी को यह कहने का मौका न मिले कि हमे तो इस प्रस्ताव की कोई सूचना न थी अथवा हमने शरमा-शरमी या डर के मारे उसे स्वीकार किया था। ट्रस्टियो के दफ्तर मे इस प्रकार विधि पूरी होने पर मैं तथा मेरे साथ के लोग मदिर मे गये और हम सबने पाडुरग के दर्शन किये। सबके अत करण गद्गद् हो गये थे और मेरी आखो मे से तो अश्रुधारा वहने लगी थी। आनद और कृतज्ञता के भाव प्रत्येक के हृदय मे पूरे-पूरे भरे हुए थे।

वहा से हम श्री साने गुरुजी के निवास-स्थान पर गये। श्री साने गुरुजी खाट पर पड़े हुए थे। मैने उन्हे सारा हाल बताया और थोडा सतरे का रस लेकर उपवास तोडने की प्रार्थना की। उनके पास पाडुरग की मूर्ति का चित्र

था, उन्होने पहले उसे प्रणाम किया, आखें वद कर एकाध मिनिट मूक प्रार्थना की और फिर उपवास तोडा।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध डाक्टर भड़कमकर[1] भी उस समय वहा मौजूद थे। उसके वाद, श्री साने गुरुजी के, वाहर एकत्रित भारी जन-समूह के सामने जाकर सबके सामूहिक प्रार्थना करने की इच्छा प्रदर्शित करने पर उनकी चारपाई वहा ले जाई गई और प्रार्थना हुई। श्री साने गुरुजी कुछ वोल सकने की स्थिति में नही थे। उन्होने मुझसे लोगो से यह कहने के लिए कहा कि "श्री ज्ञानेश्वर और एकनाथ महाराज ने चंद्रभागा के पट अस्पृश्यो के लिए खुले करके हरिजनो का मदिर की सीढी तक प्रवेश कराया और आज यह स्थिति आ गई है कि हरिजन इस सीढी पर चढकर मदिर में प्रवेश कर सकते हैं। यह सब केवल श्री पाडुरंग की इच्छा और कृपा का ही फल है।"

एकत्रित जन-समुदाय को यह सदेश सुनाकर सबने भक्तिभाव से पाडुरग का भजन किया और श्री साने गुरुजी का जीवन वचा लेने के लिए भगवान के प्रति आभार प्रदर्शित किया। यह सब होते-होते रात के लगभग नौ वज गये।

दूसरी ओर रात के साढे नौ वजे नगर के वडे मैदान मे सभा होने के कारण लोगो के ठठ्ठ-के-ठठ्ठ जमा होने लगे। समूचे नगर में उत्साह का वातावरण था और मानो दीवाली का दिन हो, इस प्रकार शहर में दीपक और आतिशवाजी आदि के दृश्य दिखाई पडते थे। मुझे यह कल्पना न थी कि मदिर खुला होने की खुशी में लोगो ने इतना सव-कुछ किया। इसलिए मैंने सहज ही वहा के एक भाई से पूछा—"क्या आज कोई त्यौहार है ?" उस भाई ने तुरत ही उत्तर दिया—"मदिर अस्पृश्यो के लिए खुला हो गया और ईश्वर ने श्री साने गुरुजी को वचा लिया, इससे विशेष वडा और क्या त्यौहार हो सकता है ? लोग इसी प्रसग को इतने उत्साह से मना रहे हैं।" इससे मुझे आश्चर्य एव अत्यत प्रसन्नता हुई।

हमें अपने निवास-स्थान पर जाकर और भोजन करके सभा-स्थान पर

[1] इनका कुछ ही समय वाद स्वर्गवास हो गया।

पहुचते-पहुंचते लगभग पौने ग्यारह बज गये थे। मैं तो परेशान हो गया था। ठक्कर बापा भी थक गये थे। इसलिए हम सोच रहे थे कि सभा मे राव-साहब पटवर्धन और अप्पासाहब पत आदि की उपस्थिति से ही काम चल जाय। किंतु हमारे गये बिना छुटकारा न था। इस सभा का दृश्य अनोखा ही था। केवल दो घटे की सूचना मे ही लगभग छ-सात हजार स्त्री-पुरुष सभा-स्थान पर एकत्रित हो गये थे। विशेष ध्यान देने योग्य तो यह बात थी कि इनमे लगभग पचास प्रतिशत बहनें थी और वे भी कोई बहुत पढी-लिखी नही, प्रत्युत सामान्य—अशिक्षित समझी जानेवाली—गरीब बहने भारी सख्या मे उपस्थित थी। यह सभा लगभग एक-डेढ बजे तक चली। हम तीन-चार जनो को ११ ता० को बडे सवेरे पूना रवाना होना था। इसलिए हम सभा मे अत तक नही रुक सके। जो सुखद परिणाम निकला, उसकी सूचना तार से गाधीजी को दिल्ली भेज दी और समाचार पत्रो के उपयुक्त वक्तव्य[1] प्रकाशित करने के बाद प्रात श्री साने गुरुजी से मिलकर हम सब पूना के लिए रवाना हो गये।

: ४७ :

प्रादेशिक विश्वविद्यालय

सन १९२५ मे सर चिमनलाल सीतलवाड समिति की यह रिपोर्ट आई कि प्रादेशिक विश्वविद्यालय वाछनीय हैं। इस पर मेरे मन मे ये विचार आने लगे कि गुजरात के लिए भी ऐसी यूनिवर्सिटी होनी चाहिए। उस समय की कल्पना के अनुसार उसका स्वरुप बबई विश्वविद्यालय के आधार पर सोचा गया था, किंतु बाद में जैसे-जैसे परिस्थिति बदलती गई और विचार परिपक्व होते गये, वैसे-वैसे विश्वविद्यालय की इच्छा बनी रहते हुए भी उसके उद्देश्य तथा स्वरुप-सबधी मेरी कल्पना मे आमूल परिवर्तन हो गया। विश्वविद्यालय की मूल कल्पना के अनुसार गुजरात विश्वविद्यालय की स्थापना को सभव बनाने की दृष्टि से सन १९२७ में 'गुजरात लॉ सोसाइटी'

---

[1] देखिये परिशिष्ट ३।

स्थापित हुई और 'सर लल्लूभाई लॉ कालेज' आरभ हुआ। उसमे मैंने पूरी दिलचस्पी लेकर अपने वस भर परिश्रम किया।

उसके बाद, १६२८-२६ में गुजरात कालेज में हडताल हुई और उनमें इच्छा या अनिच्छा से मुझे प्रमुख भाग लेना पडा। उसमें जो अनुभव हुआ, उससे विश्वविद्यालय के महाविद्यालयो (कालेजो) की लगाम और शिक्षा-पद्धति का निश्चय जनता के प्रतिनिधियो के ही हाथ मे रहना चाहिए, यह विचार बना। अत १६२६ मे नया आर्ट्स कालेज स्थापित करने का विचार प्रबल हुआ। इस विचार के फलस्वरूप १६३५ मे 'अहमदाबाद एजुकेशन सोसाइटी' की स्थापना हुई और यथासमय उसके कार्य का वटवृक्ष की तरह विकास हुआ और उसमें से विश्वविद्यालय के बीज पैदा हुए। १६४३ मे गुजरात साहित्य परिषद की बैठक ने गुजरात के लिए प्रादेशिक विश्वविद्यालय की पुरजोर माग रखी। १६४४ के मार्च-अप्रैल में विश्वविद्यालय की स्थापना के कार्य-सबधी प्रथम भूमिका तैयार करने और धन एकत्रित करने के लिए गुजरात विद्या सभा (गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी) ने गुजरात के सब शिक्षण-शास्त्रियो तथा अन्य प्रमुख नागरिको का 'गुजरात विश्वविद्यालय मडल' नाम से एक मडल स्थापित किया। इस मडल की ओर से जो प्रयास हुआ, उसका इतिहास गर्व करने योग्य है, किंतु यहा मै उसमे नही जाता।[1]

इसी बीच बबई सरकार ने महाराष्ट्र विश्वविद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया। इससे हमारे काम में सरलता हो गई और हम अपने प्रयास अधिक सफलतापूर्वक आगे बढा सके।

सरकारी पद्धति के अनुसार महाराष्ट्र विश्वविद्यालय के स्थापित होने पर गुजरात और कर्नाटक के विश्वविद्यालय भी स्थापित होगे, यह बात दीपक जैसी स्पष्ट और निश्चित थी। किंतु इसमें मुद्दे का प्रश्न तो यह था कि सरकार द्वारा स्थापित विश्वविद्यालय किस तरह काम करेंगे? ये बबई विश्व-

[1] मैंने इस प्रकरण का 'गुजरात की शैक्षणिक प्रगति तथा विकास' नाम से सक्षिप्त इतिहास लिखा है और अहमदाबाद एजुकेशन सोसाइटी ने इसे प्रकाशित किया है।

विद्यालय की तरह केवल महाविद्यालयो—कालेजो—को मान्यता प्रदान करेगे, परीक्षा लेकर उपाधि देनेवाले विश्वविद्यालय होगे अथवा शिक्षा पर ध्यान केंद्रित कर विद्या का अधिक विकास करनेवाले विश्वविद्यालय होगे ? उनमे शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगा अथवा अग्रेजी ? सरकारी मान्यता के कारण शिक्षा के क्षेत्र मे उसे स्वतत्रता रहेगी अथवा सरकार के विचार और पद्धति के पीछे-पीछे उसे घिसटना पडेगा ?—आदि अनेक महत्व के और उलझन-भरे प्रश्न विचारणीय थे।

मेरी यह निश्चित मान्यता थी और है कि कोई भी शिक्षा सस्था सरकार से—फिर भले ही वह सरकार राष्ट्रीय हो—सर्वथा स्वतत्र होनी चाहिए। शैक्षणिक विषय मे सरकारी अथवा राजनैतिक हस्तक्षेप नही होना चाहिए। ऐसी सस्था को सरकार सहायता दे तो वह इष्ट ही समझा जायगा—उससे सरकार की भी प्रतिष्ठा और गौरव बढेगा। इसके साथ-साथ स्वय महात्मा गाधी के गुजरात विद्यापीठ सबधी आदर्श प्रयोगो का अनुभव भी हमारे सामने था ही। ऐसे स्वतत्र विद्यापीठ चाहे जितने आदर्श होने पर भी सरकार के साथ के जनता के सबध और पढाई समाप्त करने के बाद के जीवन मे सरकारी मान्यता के आर्थिक मूल्य को देखते हुए यह तो स्पष्ट ही था कि ये एक या दूसरी तरह सरकारी सहायता होने पर ही विस्तृत आधार पर काम कर सकते हैं। इस तरह के तथा दूसरे तरह के कई विचारो से मैं और मेरे मित्र[1] विश्वविद्यालय से मान्य, किंतु सरकार से स्वतत्र कालेज स्थापित करने के निर्णय पर पहुचे थे, जिसके फलस्वरूप अहमदाबाद एजुकेशन सोसाइटी की प्रवृत्तिया शुरु हुई थी।

१९४६ मे काग्रेस सरकार के बबई प्रात में अधिकारारूढ होने पर सरकारी सहानुभूति अधिक सरलता से प्राप्त होने की आशा थी, फिर भी मुझे एकदम उसी पर आधार रखकर काम करना उचित प्रतीत नही होता था। मेरी यह मान्यता थी कि जनता को स्वय ही प्रयत्न करना चाहिए और यदि वह अच्छी तरह प्रयत्न करे तो सरकार के लोकतत्रीय होने के कारण वह अपने लाभ और प्रतिष्ठा के लिए स्वय ऐसे प्रयत्नो को अपना लेगी

[1] स्व० दीवान तथा बलभाई ठाकुर।

और आज की परिस्थिति मे भी मेरी यही मान्यता कायम है। इसलिए सरकार के विश्वविद्यालय सवधी जाच के लिए समिति स्थापित करने का निश्चय करने पर मैंने उसके सदस्य के रूप मे रहना स्वीकार कर लिया और आगे चलकर उसमे उत्पन्न स्थिति के वश होकर, उसके अध्यक्ष-पद पर रहने की सम्मति भी मैंने प्रकट कर दी थी। इस समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हो चुका है, इसलिए मैं उसके विस्तार में नही उतरता।

: ४८ :

प्रादेशिक विद्यापीठ और गांधीजी

प्रादेशिक विश्वविद्यालय विषयक हमारे प्रयत्नो के सवध में गुजरात में काफी चर्चाए चल पडी थी। कितने ही विचार निजी अथवा राजनैतिक मतभेद प्रदर्शित करनेवाले थे। कितने ही केवल शैक्षणिक आधार पर थे। सरकारी समिति का काम चल रहा था। इसी बीच नये विद्यापीठ खोलने की जल्दबाजी में निहित भय के सवध मे गाधीजी ने २ नववर १९४० के 'हरिजन-बंधु' में एक लेख प्रकाशित किया। उससे ऐसा आभास होना सभव था कि गाधीजी गुजरात के प्रस्तावित नये विद्यापीठ के विरोधी हैं, और गाधीजी के नाम पर इस प्रकार का प्रचार भी हमारे प्रयत्नों के विरुद्ध चलना शुरू हुआ। इस कारण ११ दिसवर १९४७ को दिल्ली में मैंने गांधीजी से इस विषय में विस्तार से चर्चा की और इस चर्चा का सार लिखकर मैंने अपने १९ दिसवर १९४७ के पत्र के साथ, उसे देख लेने और उसमे उन्हें जैसा उचित प्रतीत हो वैसा सशोधन एव परिवर्तन करने के लिए उनके पास भेज दिया। उसका सार निम्नलिखित है:

(१) यह सिद्धात गाधीजी स्वीकार करते हैं भाषानुसार विद्यापीठ होने चाहिए, किंतु उनका कहना है कि इन विद्यापीठो की स्थापना के पहले भाषावार प्रात-रचना होनी चाहिए।

(२) गाधीजी यह मानते हैं कि भाषावार पृथक राजतन्त्र करने में अधिक समय नही लगता। चार-छ महीने मे भी वह हो सकता है। उनकी यह मान्यता है कि भाषावार पृथक राजतन्त्र के पक्षपाती परस्पर विचारो

का आदान-प्रदान कर आपस में ही समझ-बूझकर निर्णय कर ले, तभी ये राजतन्त्र अच्छी तरह और मैत्रीपूर्ण वातावरण मे अस्तित्व मे आ सकते हैं। यदि यह बात विधान-मडलो अथवा सीमा आयोगो पर छोड दी गई तो उनसे क्लेश ही पैदा होगा और प्रात-प्राती का विरोध होने के कारण परस्पर सद्भावना रहने की अपेक्षा विवाद खडा हो जायेगा। इसलिए उनका आग्रह है कि भाषावार पृथक प्रात-निर्माण करने की इच्छा रखनेवाले परस्पर मिलकर सब प्रश्नो को हल कर लें।

(३) इस विषय में दो मत नही कि गाधीजी के ये विचार सर्वथा उचित और सबके लिए लाभप्रद हैं। प्रश्न केवल इतना ही है कि प्रस्तुत परिस्थिति मे यह सभव है या नही ? और जैसाकि वह मानते हैं, उस तरह चार-छ महीने मे इस विषय मे परस्पर मिलकर हल निकल सकता है या नही ? स्वय मुझे तो ऐसा हो सकने की बिल्कुल आशा नही है। इसके विपरीत मुझे तो ऐसा लगता है कि भाषावार पृथक राजतन्त्र स्थापित होने मे वर्षों लग सकते हैं। यदि चार-छ महीने ही रुकना हो, तो मुझ-जैसे को कोई आपत्ति नही। इतना समय तो विद्यापीठ स्थापित करने की तैयारी मे ही सहज ही लग जायगा।

(४) किंतु यदि भाषावार प्राती की स्थापना मे लगनेवाले समय के विषय में मेरा कथन ठीक हो और भाषावार राजतन्त्रो के स्थापित होने मे वर्षों बीत जानेवाले हो, तो यह महत्व का प्रश्न उपस्थित होता है कि पृथक राजतन्त्र स्थापित होने की अवधि तक सारी शिक्षा का माध्यम क्या रखा जाय ? सयुक्त प्रात जैसे एक-भाषा-भाषी प्रात की बात को अलग रखिये, किंतु बबई प्रात की शिक्षा की व्यवस्था किस तरह की जाय ? क्या अभी समूचे प्रात की कोई एक सामान्य भाषा शिक्षा के माध्यम के तौर पर स्वीकार की जा सकती है ? और यदि ऐसा न हो सके तो अभी जैसी चल रही है वैसी अधेरगर्दी कब तक चलने दी जाय ?

(५) बबई प्रात मे बबई विश्वविद्यालय समूचे प्रात के शैक्षणिक एव सास्कृतिक विकास के लिए कार्य करने मे समर्थ नही है। इतना ही नही, प्रत्युत बबई शहर मे स्थित होने के कारण उसका दृष्टिकोण सर्वथा पाश्चात्य और शहरी है। यह विश्वविद्यालय अपनी सस्कृति के आधार पर विकास करने के

लिए उपयुक्त नही कहा जा सकता, इतना ही नही, वरन उसके दिनो-दिन अधिकाधिक प्रतिकूल होने की ही सभावना है। ऐसी स्थिति मे क्या नये भाषावार विद्यापीठ स्थापित करने का काम स्थगित रखा जाय ? और यदि स्थगित रखना हो, तो कितने समय के लिए ?

(६) यह बात ठीक है कि भाषावार पृथक राजतन्त्र हो तो भाषावार विद्यापीठो को सहायता मिलेगी। किंतु क्या उसी तरह यह सभव नही कि भाषावार विद्यापीठ भाषावार राजतन्त्र को अधिक शीघ्र और अधिक अच्छी तरह अस्तित्व में लाने मे मदद कर सकते हैं ? बबई प्रात के भाषावार विद्यापीठ जिस सास्कृतिक आधार पर अपना विकास करना चाहेगे वह भारतीय सस्कृति होगी। एकमात्र इसी आधार पर कि प्रत्येक पृथक भाषा विभाग का अपनी विशेष पद्धति से विकास हो, तो क्या नये विद्यापीठ स्थापित करने मे यह सभावना निहित नही है कि वर्तमान प्रातीयता, जो आर्थिक और राजनैतिक कारणो से बढती है, उसे ये विद्यापीठ रोक सकते हैं और ऐक्य का वातावरण पैदा कर सकते हैं ? भाषावार राजतन्त्र और विद्यापीठ परस्पर लाभदायक है, और यदि गाधीजी यह मानते हैं कि भाषावार राजतन्त्र का प्रभाव भाषावार विद्यापीठो पर होकर रहेगा, तो यह भी क्यो नही माना जा सकता कि भाषावार विद्यापीठ भाषावार राजतन्त्र की प्रवृत्ति और दृष्टि पर अच्छा प्रभाव डाल सकता है ?

(७) काग्रेस ने सन १९२१ से ही भाषावार प्रातो का सिद्धात स्वीकार कर लिया है, उस बात को अब बदला नही जा सकता। केवल इस स्वीकार्य वस्तु को पृथक राजतन्त्र स्थापित कर कार्यान्वित करना ही शेष रह गया है। भाषावार प्रांत-रचना के अनुसार वर्षो तक काग्रेस की विविध प्रवृत्तिया चलती रही हैं, फिर नये विद्यापीठो का क्या अशुभ प्रभाव होनेवाला है ?

(८) यह माना जा सकता है कि भाषावार राजतन्त्र न हो तो विद्यापीठ प्रभावोत्पादक न बन सकगे, फिर भी मातृभाषा द्वारा शिक्षण देने और शिक्षा का व्यापक प्रसार करने की आवश्यकता स्वीकार की जाय, तो यदि भाषावार विद्यापीठ प्रभावोत्पादक न भी बन सकें तो क्या यह भी नही कहा जा सकता कि वे कुछ भी काम न कर सकेंगे ? वे चमक नही सकेंगे इसलिए वे अस्तित्व मे भी न आयें, यह विचार समझ में नही आता। विद्यापीठ

कायम हों तो भाषावार राजतत्र होने पर वह फूल-फल सकेगे। जिस प्रकार जब आजादी नही थी तब भी हमने शैक्षणिक, आर्थिक आदि क्षेत्रो मे अपने प्रयत्न चालू रखे थे, मैं मानता हू कि उसी तरह हमे विद्यापीठ भी चालू करने चाहिए।

(९) गाधीजी को भय है कि सरकारी तत्र उचित ढग से नही चलता और हम पर पश्चिम का प्रभाव है। यह बात सर्वथा सत्य है। उन्हे भय है कि ऐसे तत्र के अतर्गत जो विद्यापीठ स्थापित होगे और चलाये जायेगे, उनसे हमारे देश में जिस प्रकार की शिक्षा वाछित है, उस प्रकार की शिक्षा न मिल सकेगी। उनका यह भय भी साधार है। किंतु यदि नये विद्यापीठ यह सिद्धात स्वीकार करें कि बाल-शिक्षण से लेकर अत तक के शिक्षण का आयोजन शिक्षणविदो के ही हाथ मे होना चाहिए, सरकारी अथवा राजनैतिक व्यक्तियो के नियत्रण में वह न हो, तो नये विद्यापीठो मे उचित शिक्षण के अभाव का भय रहने का कोई कारण नही रह जाता। इस विचार से गाधीजी सहमत हैं। मैंने अपना यह विचार अनेक स्थलो पर व्यक्त किया है और मुझे आशा है कि सरकार द्वारा स्थापित गुजरात यूनिवर्सिटी भी मेरा यह विचार स्वीकार करेगी और यदि ऐसा न हो तो भी मुझे अपना स्वतत्र विचार व्यक्त करने की स्वतत्रता है ही।

(१०) गुजरात विश्वविद्यालय मडल के प्रकाशित मूल प्रतिवेदन पर, और साथ ही उस मडल की समिति की ओर से चर्चा के लिए प्रकाशित विवरण की ओर मैंने गाधीजी का ध्यान आकर्षित किया था और बताया था कि हमारे नियोजित विश्वविद्यालय मे किसी भी प्रकार की प्रातीय भावना नही है। शिक्षा का उद्देश्य विश्व-कल्याण होकर उसका आधार मानव-धर्म है। हमने अपने विवरण मे इस आशय के विचार व्यक्त किये थे कि प्राथमिक से लेकर उच्चतम तक समूची शिक्षा का आयोजन विश्वविद्यालय करेगा और समस्त शिक्षण मातृ-भाषा द्वारा होगा। ये प्रतिवेदन और विवरण गाधीजी के देखने मे नही आये, इसलिए वह इसके साथ रखे हैं और उनसे सबधित लेख पृष्ठ सख्या २०, २१, २२, २३, ३७, ३८, ४१, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९ और ५७ पर लाल पैंसिल से अकित हैं।

(११) इस चर्चा के बीच हमने एजुकेशन सोसाइटी की स्थापना

किस उद्देश्य और किन परिस्थितियो मे की और उनके करने मे हमारे आदर्श क्या थे, इसका सक्षिप्त विवरण भी मैंने गाधीजी को वताया। हमारी वैचारिक भूमिका और कार्य की शृखला से वह परिचित हो सकें, इसीलिए यह सव किया गया था।

(१२) उच्च शिक्षा के लिए स्वतत्र व्यवस्था करने का विचार सन १९२९ की गुजरात कालेज की हडताल से उत्पन्न हुआ था। एक विदेशी सरकार की अधीनस्थ शिक्षण सस्था विदेशी प्रधानाचार्यों (प्रिंसिपलो) की देख-रेख में हमारे युवक वर्ग की स्वतत्रता और देशप्रेम को एकदम कुचल दे और उन्हे कायर और गुलाम वनादे, यह असह्य था। इसमें कोई सशय नही था कि ऐसी सस्थाओ मे मिलनेवाली शिक्षा राष्ट्रीय और सामूहिक दृष्टि से निरर्थक थी, इतना ही नही अत में हानिकर भी थी। यह भी प्रतीत होता था कि विद्यार्थियो को ऐसी सस्था छोड देनी चाहिए और १९२१ में गाधीजी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ की तरह की स्वतत्र सस्था स्थापित होनी चाहिए। इस विपय में भी कोई शका नही थी। ऐसे स्वतत्र विद्यापीठ में किस पद्धति से और किन-किन विपयों की शिक्षा दी जानी चाहिए, इस विपय में मतभेद की गुजाइश है और हो सकती है, किंतु शिक्षा की स्वतत्रता कायम रखने के लिए सरकार से सर्वथा स्वतत्र इस प्रकार का प्रयत्न करना जरूरी है, यह वात मैंने सदा ही स्वीकार की है और वह इस हद तक, कि यदि सभव हो सके तो शिक्षा का आयोजन राष्ट्रीय अथवा लोकतत्री मानी जानेवाली सरकार से भी स्वतत्र होना चाहिए।

(१३) यह सव होते हुए भी यह वात भी स्पष्ट थी कि ऐसी सर्वथा स्वतत्र सस्था में विद्यार्थियो का प्रवाह ठीक-ठीक तरह चालू नही रहता। इसका मुख्य कारण अपनी दुर्वलता है, किंतु हम उत्तम वस्तु प्राप्त नही कर सकते, इसलिए कुछ भी न किया जाय, यह वात भी मुझे और मेरे साथियों (स्व० वल्लुभाई ठाकुर और श्री दीवान) को पसद नहीं थी। इसके अलावा एक और वात हमारे मन में थी। मैं और मेरे साथी सार्वजनिक काम में जैसे-जैसे आयु मे वढते गये, वैसे-वैसे हमें अपने कार्य की परंपरा कायम रखने के लिए नये-नये व्यक्ति प्राप्त करना अधिकाधिक आवश्यक प्रतीत होने लगा। सरकार ने शिक्षा के तत्र को इतना अधिक प्रतिवधित कर दिया था

कि हमारे जैसे सार्वजनिक सेवको का सरकारी शिक्षण सस्थाओ में प्रवेश होना लगभग असंभव था और इसलिए सार्वजनिक जीवन में नये नवयुवक प्राप्त करने के लिए हमारा और नवयुवको का जो परस्पर परिचय आवश्यक था, उससे हम लगभग वचित-से रहते थे। इसलिए हम युवक वर्ग के साथ सपर्क साध सकें और उसके द्वारा सार्वजनिक सेवा के लिए कुछ को आकर्पित कर सकें, इस लोभ से हमें उच्च शिक्षा की सस्थाए स्थापित करनी चाहिए, यह विचार दृढ हुआ। सरकारी गुलामी से जितनी मुक्ति मिल सके उतनी प्राप्त की जाय और सार्वजनिक कार्यों के लिए युवको का ताता निरतर बना रहे—इन दो विचारो से हम अहमदाबाद एजुकेशन सोसाइटी द्वारा महाविद्यालय स्थापित करने के लिए प्रेरित हुए थे।

(१४) जैसाकि मैं पहले कह चुका हू, हमारा यह प्रयास सर्वथा प्रथम श्रेणी का नही था। उसमे कई मर्यादाए थी, किंतु इन मर्यादाओ के होते हुए भी ऐसा लगता था कि हम अपनी सस्थापित सस्थाओ मे कुछ भिन्न प्रकार का वातावरण रख सकेंगे, और मैं यह कहने का साहस कर सकता हू कि अनुभव से हमारी यह मान्यता सफल निकली है। प्रत्येक को सरकारी तत्र के नियत्रण मे चलनेवाली सस्थाओ की अपेक्षा एजुकेशन सोसाइटी की सस्थाओ मे मातृभाषा का आदर और समुचित स्थान और उसी तरह खादी के प्रति प्रेम व तिरगे झडे के लिए त्याग की भावना सुस्पष्ट दिखाई देती थी। १९४१ के व्यक्तिगत सत्याग्रह में हमारे कालेज के प्रोफेसरो ने भाग लिया था। १९४२ की बात तो मैं करता ही नही, क्योकि उस समय सरकारी या गैर-सरकारी सब सस्थाओ में एक प्रकार का अलग ही वातावरण था। हमारी सोसाइटी की स्थापना के आरभ मे जब कामर्स कालेज स्थापित किया गया तो वहा 'वदेमातरम' गीत गाया गया था और उस सबध में सरकारी अधिकारियो ने आपत्ति की थी। यदि हमारी स्वतत्र सस्थाओ में 'वदेमातरम' गाने तक की स्वतत्रता न हो, तो ऐसी सस्था चलाने की अपेक्षा उसमे ताला लगा देना पसद करने का हमारी प्रबध-समिति—गवर्निंग बाडी—ने विचार किया था। इस बात से मुझे आज भी एक प्रकार का सतोप मिलता है।

(१५) जिस समय उपर्युक्त सोसाइटी स्थापित की गई थी, उस समय उसका लक्ष्य एक-दो महाविद्यालय (कालेज) स्थापित करने तक ही मर्या-

दित नहीं था, प्रत्युत उसके द्वारा गुजरात की शिक्षा और विकास के लिए एक आदर्श विश्वविद्यालय स्थापित करने की कल्पना की गई थी। सोसाइटी के प्रथम अध्यक्ष स्वर्गीय डा० आनदशकर ने पहली वार्षिक बैठक मे जो भाषण दिया था, उसमे उन्होने हमारी आकाक्षा का उल्लेख किया था। सोसाइटी को स्थापित हुए लगभग १२ वर्ष हो चुके है। इस बीच उसने ठीक-प्रगति की है और हम गुजरात के लिए विद्यापीठ स्थापित करने की मजिल तक पहुच गये है। जिस समय (१९६५ मे) गुजरात के लिए स्वतत्र प्रादेशिक विद्यापीठ स्थापित करने के विचार से सोसाइटी का काम शुरु किया गया था, उस समय गुजरात प्रात के स्वतत्र और पृथक राजतंत्र की कल्पना नही की गई थी और बबई प्रात के एक ही राजतत्र के अतर्गत होते हुए भी प्रादेशिक विद्यापीठो का होना आवश्यक और संभव माना था, और उस दिशा मे प्रगति जारी रखी थी। ऐसी दशा मे अब आजादी की नई परिस्थिति में वह विचार और कार्य किस तरह स्थगित रखा जा सकता है? अथवा उसकी आगे प्रगति किस तरह रोकी जा सकती है?

(१६) त्रिभाषा-भाषी बबई प्रदेश में प्रादेशिक विद्यापीठ स्थापित करने का सिद्धात १९२५ से ही स्वीकार किया जा चुका है और सरकार और जनता दोनो के ही उस दिशा मे विचार और प्रयत्न चालू है। उस समय (१९२५ में) भाषावार स्वतत्र राजतत्रवाले प्रदेशो के लिए विशेष आग्रहपूर्वक माग नही थी, फिर भी ऐसे विद्यापीठो की माग हुई थी और वह स्वीकार भी की गई थी। यदि आज तक वैसे भाषावार विद्यापीठ अस्तित्व में नहीं आये, तो इसका कारण जनता की इच्छा होते हुए भी प्रयत्नो का जोर कम था यही कहा जा सकता है। किसीने यह विचार तक नहीं किया था कि राजतत्र पृथक न होने के कारण भाषावार विद्यापीठ स्थापित नही हो सकते अथवा राजतत्र पृथक होने के बाद ही भाषावार विद्यापीठ स्थापित करने चाहिए। ऐसी दशा मे अब देश के आजाद हो जाने के बाद, देश मे हिंदू-मुस्लिम अथवा दूसरे झगडे है, इस कारण भाषावार विद्यापीठो का प्रश्न पृथक राजतत्र स्थापित होने तक के लिए क्यों टाला जाना चाहिए? यह भी कहा जा सकता है कि राजतंत्र पर पश्चिम की छाप होने के कारण ऐसे राजतत्र द्वारा स्थापित विद्यापीठ भी पश्चिम की

पद्धति पर ही चलेगे, तब तक हम अपनी भाषा द्वारा शिक्षा देनेवाले विद्यापीठ स्थापित करना क्यो स्थगित रखे ? फिर राजतत्र की पद्धति मे विशेष परिवर्तन होगा या नही, यह कैसे और कौन कह सकता है ? १५० वर्ष पूर्व से अधिक समय से हम पर पश्चिम के सस्कार पडते आये है और ससार भी यातायात के द्रुतगामी साधनो के कारण सिकुड गया है। ऐसी स्थिति मे हम अपनी पद्धति पर अग्रसर हो सकें या नही, यह निश्चय करना बहुत कठिन है।

(१७) अब भाषावार पृथक राजतत्र स्थापित न होने पर भी भाषावार विद्यापीठ हो गये हैं, यह बात भी ध्यान देने योग्य है। असम, उत्कल, सिंध, अन्नामलाई, सागर, राजपूताना, मैसूर आदि के विश्वविद्यालय अस्तित्व मे आ चुके हैं। महाराष्ट्र विश्वविद्यालय के सविधान का मस्विदा विधान सभा मे पेश हो चुका है, इसलिए कुछ ही समय में वह भी अस्तित्व मे आ जायगा। ऐसी दशा मे अब भाषावार विश्वविद्यालय कितने शेष रह गये है ? बबई प्रदेश के कर्नाटक विभाग का (जो आकार में छोटा ही है) अपना विश्वविद्यालय स्थापित करना शेष है, किंतु मैसूर विश्वविद्यालय के रूप मे कन्नड भाषा का विश्वविद्यालय अब भी मौजूद है। इस दृष्टि से समूचे भारत का विचार करने पर पृथक भाषावार राजतत्र के अभाव मे यदि कोई विश्वविद्यालय स्थगित रखना हो, तो केवल गुजरात विश्वविद्यालय ही शेष रहेगा। अर्थात नये विश्वविद्यालय के लिए यदि पृथक राजतत्र अनिवार्य ही हो, तो अकेला गुजरात ही शेष रहेगा, इसमे कोई विवाद नही है।

(१८) सन १९२१ से ही भाषावार प्रातो का सिद्धात स्वीकार कर चुकने पर भी कितनी ही अनिवार्य परिस्थितियो के कारण ऐसे प्रात स्थापित किये बिना भी प्रातीय और केंद्रीय कानून बनाये जाते है, तब फिर ऐसे प्रत्येक प्रात की आवश्यकतानुसार उन-उन प्रातो मे भाषावार शिक्षण-योजना, अर्थात भाषावार विश्वविद्यालय, क्यो न होने चाहिए ? प्रातीय राजतत्र मे अभी जो कितनी ही अवाछनीय स्थिति अथवा कठिनाइया हैं या होना सभव हैं, ऐसे भाषावार विश्वविद्यालय स्थापित होने मे उनमे क्या और किस तरह वृद्धि होगी, यह समझ मे नही आता। उल्टे यह प्रतीत

होता है कि एक ही सस्कृति के आधार पर शिक्षा देनेवाले भिन्न भाषा-भाषी विश्वविद्यालय राजनैतिक समस्याओ के समाधान में बाधा होने की अपेक्षा सहायक ही होगे। किंतु यह व्यक्तिगत मान्यता अथवा कल्पना का प्रश्न है। कोई भी इस विषय मे निश्चयपूर्वक नही कह सकता।

(१६) गाधीजी के लेख मे आये हुए निम्नलिखित मुद्दे ऐसे हैं जिन्हें हर कोई मान्य कर सकता है·

१ भाषानुसार विश्वविद्यलय होने चाहिए।

२ भाषावार राजतत्र पृथक हो तो भाषा का गौरव प्रमाण से अधिक होगा और विश्वविद्यालय का वातावरण भी अधिक सुगमता से वढेगा और आधार सुदृढ होगा।

३ पश्चिम के प्रभाव से मुक्त होना चाहिए। विदेशी शासन से स्वतत्र हो गये, इससे विदेशी भाषा अथवा विचारो के प्रभाव से भी मुक्त हो गये, यह नही कहा जा सकता।

४. विश्वविद्यालय केवल पैसे से अथवा विशाल भवनो से नहीं वनते। उनकी पीठ पर लोकमत होना चाहिए, शिक्षण मडल होना चाहिए, सूक्ष्म विवेक होना चाहिए। ऊपर से आ पडनेवाले टिकते नहीं, शोभा नही देते, उसी प्रकार जनता के लिए कल्याणकर नहीं होते।

यह विवरण भेजते समय मैंने गाधीजी को अहमदावाद से १६ दिसंवर १६४७ को निम्न पत्र लिखा था .

"आपने 'हरिजन' मे भाषावार विश्वविद्यालयो के सबध में लेख लिखा है। उसके विषय में मैंने आपसे ११ दिसंवर को चर्चा की थी। श्री काका-साहव भी मौजूद थे। इस चर्चा के समय मैंने आपके साथ जो दलीलें की थी, साथ के कागज में मैंने उनका विवरण दिया है। मैंने जो शब्द कहे थे, इसमें वे ज्यो-के-त्यो नही हैं, न दलीलो का क्रम ही यथावत रखा जा सका है। किंतु इनमें सव दलीलो का समावेश हो जाता है। एक-आध मुद्दा थोडे-बहुत विस्तार के साथ भी लिखा गया होगा। आपने जो-कुछ किया, वह भी मैंने इसमें वताया है। मैंने इसमें आपके मतव्य के रूप में जो-कुछ वताया है वह ठीक है अथवा उसमे कुछ भूल है, यह जानने के लिए साथ का

लेख भेज रहा हू । यदि कुछ भूल हो तो उसे सुधार दीजिये । उस समय मेरी दलीलो के बाद आपके मत मे कुछ परिवर्तन हुआ हो ऐसा प्रतीत नही हुआ था, किंतु यदि कुछ परिवर्तन हुआ हो, तो वह भी अलग कागज पर बतादें तो आभारी होऊगा ।

"यहा १४ ता० की दोपहर को पहुचा । उसके बाद यहा के कामो मे फस जाने के कारण दलीलो का सार लिखने मे देर हो गई । यूनिवर्सिटी समिति की बैठक २६ ता० को रखी है, उससे पहले ही मुझे इसका उत्तर मिल जाय तो अच्छा है ।

"साथ के विवरण में उल्लिखित विश्वविद्यालय मडल का विवरण अलग बुक पोस्ट से भेज रहा हू और उसमे से प्रस्तुत मुद्दे के सबध मे आपको जो-कुछ वृत्त देखना आवश्यक है, उस पर लाल पैंसिल से लकीर खीच दी है । पृष्ठो का क्रम टिप्पणी मे दे दिया है ।

"भाई जीवनजी बताते हैं कि आपके लेख के सबध मे समिति के अध्यक्ष के रूप में मैंने जो उत्तर दिया है, उन्होने आपको पत्र लिखकर उस सबध में लिखा है । इस विषय मे मैंने आपसे ११ तारीख को मुलाकात के समय बात की थी । मैं अपने इस विचार पर अब भी कायम हू कि भाषावार विश्वविद्यालय अभी स्थापित किये जाय या बाद मे, यह मुद्दा समिति के विचार क्षेत्र के बाहर है ।

"भाई नरहरिभाई की तबीयत अब ठीक है । अच्छी प्रगति पर हैं । मैं नित्य नही तो एक दिन के अतर से तो जाता ही हू ।

"आप सकुशल होगे । वहा सबको मेरा प्रणाम ।"

इस पर गाधीजी का २६ दिसबर १९४७ का आया उत्तर यह है

"तुम्हारा पत्र और अपने बीच हुई बातचीत का विवरण अभी—प्रात सवा पाच बजे—सुन गया हू । तुमने इस पर बहुत परिश्रम किया है । मेरा खयाल है कि इतना परिश्रम करने जैसी कोई बात नही थी । इनमें मेरे विचार अच्छी तरह प्रकट किये गये हैं । इसमे घटा-बढी करने की मेरी जरा भी इच्छा नही होती ।

"एक नई बात मुझे तुमसे मालूम हुई । वह यह कि अब भाषावार विश्वविद्यालय एकमात्र गुजरात का ही बाकी है । मुझे यह स्वीकार करना

चाहिए कि यह तथ्य मेरी दलील को कमजोर कर देता है। फिर भी इसे मेरा मोह कहो या लोभ, कि मैं चाहता हू कि अतिम विश्वविद्यालय हिंदुस्तान की सभ्यता, अर्थात उसके गावो की सभ्यता को आगे बढाये।

"मैं अभी भी मानता हू कि यदि लोगो में भाषावार प्रात-रचना के विषय में प्रातीय ममता की अपेक्षा भारत सबधी ममता हो, तो वह हम कुछ महीनो में ही सिद्ध कर सकते हैं। इसलिए तुम्हे और मुझे यही इच्छा करनी चाहिए कि तुम्हारा भय मिथ्या निकले और मेरा स्वप्न सिद्ध हो, उनके लिए शक्ति भर प्रयत्न कर देखना चाहिए। मुझे दुख इसी बात का है कि मैं इस समय इस प्रयत्न में भाग ले सकने जैसी स्थिति में नहीं रहा हू। इसलिए कभी-कभी 'हरिजन-सेवक' में लिखकर या तुम्हे पत्र भेजकर सतोष कर लेता हू। तुम्हारी तबीयत ठीक होगी।"

महात्माजी के साथ की चर्चा के सब महत्व के मुद्दे इन उद्धरणो से स्पष्ट हो जाते हैं, इसलिए इस विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं।

परिशिष्ट

: १ :

विधवा विषयक विचार

वैधव्य हिंदू धर्म की शोभा है। अखड पातिव्रत का तो यही अर्थ हो सकता है कि एक बार जिसे ज्ञानपूर्वक पति माना और समझा, शरीरांत हो जाने पर भी उसीका स्मरण कर संतोष मानें, इतना ही नहीं, प्रत्युत उस स्मरण में आनद अनुभव करें। भारत की सहस्रो विधवाएं इसी प्रकार आचरण करके प्रात-स्मरणीय बनी हैं। कुछ ही समय पूर्व, मुझे स्व० रमाबाई रानाडे से मिलने का अवसर मिला था और उनके खास कमरे में ही मैंने उनके दर्शन किये। उस कमरे में मुख्य स्थान पर मैंने एक कोच (सोफा) देखा और उस पर न्यायमूर्ति स्व० रानाडे का चित्र रखा देखा। मैं समझ तो गया था, फिर भी यह जानने के लिए कि मेरा खयाल ठीक है या नहीं, मैंने उनसे पूछा—"यह चित्र कोच पर क्यों रखा है?" उन्होंने कहा—"यह कोच इन्हींका था। इसी पर यह सदा विराजते थे, इसलिए मैंने इसे इनके चित्र के लिए ही रक्षित रखा है और मैं सदा इसीकी छाया के नीचे रहती हूं और सोती हूं।" ये पवित्र शब्द सुनकर मैं आनद-विभोर हो गया और वैधव्य की शोभा अधिक अच्छी तरह समझा। यह तो मैं जानता ही हूं कि ऐसी पतिव्रता रमाबाई भारत में स्थान-स्थान पर विद्यमान हैं।

हिंदू-धर्म की शोभा

किंतु पत्नीव्रती पुरुष कहां होंगे? और यदि न हों, तो पतिव्रता स्त्रियों की पूजा करके पुरुषों को उनसे यह प्रेरणा लेनी चाहिए कि स्वयं भी ज्ञान-पूर्वक पत्नीव्रत का पालन करके उन्हें पतिव्रता स्त्रियों की पूजा करनी है। अनुकरण के समान दूसरी पूजा क्या होगी अथवा जहां अनुकरण की जरा भी कल्पना न हो, उस शाब्दिक पूजा का क्या मूल्य माना जा सकता है? पान

पुरुषों की उद्दतता तथा स्वार्थपरता

वर्ष हुए, मैं भारत में रहकर प्रत्येक क्षेत्र में भारत के जीवन का भली-भाति अनुभव कर रहा हू। सामान्यतया चरित्रवान समझे जानेवाले, अपनी स्त्री पर अच्छा प्रेम रखते दिखाई देनेवाले नवयुवको को विधुर होते ही तत्काल सगाई करके विवाह के लिए बैठते हुए मैंने देखा है और मैं अत्यंत दुखी हुआ हू। यदि इस रूढि विशेष के गुलाम न हो गये हो, तो विधुर हुआ व्यक्ति अभी श्मशान से वापस लौटा भी नही है कि उससे पहले ही वह दूसरे विवाह का विचार करले, यह बात हमें कपा देनेवाली प्रतीत होनी चाहिए। इसके विपरीत मा अपने विधुर पुत्र को तुरत विवाहित देखना चाहती है। सास भी अपने विधुर हुए जवाई को विवाह करने के लिए प्रोत्साहन देती है। और जंवाई इससे प्रोत्साहित होने में जरा भी लज्जित नही होता ! ऐसे पुरुष के रुदन का क्या अर्थ हो सकता है ? ऐसा व्यक्ति अपनी प्रथम पत्नी की स्मृति बनाये रखने के लिए विविध उपाय करे, उनका क्या मूल्य ? अथवा वह नई स्त्री लाकर उस पर जो स्नेहभाव उंडेल रहा है, उसका नई स्त्री को कितना मूल्य समझना चाहिए ? ऐसा जीवन विवेकपूर्ण कैसे समझा जा सकता है ? मैं तो इसमें अधर्म ही देखता हू और जब तक पुरुष वर्ग इस प्रकार उद्धतता पर उतारु है, तब तक वैधव्य की प्रशंसा करना भी मुझे तो केवल भ्रम ही प्रतीत होता है और पुरुष के स्वार्थ की परिसीमा प्रतीत होती है।

पुरुषों की निर्लज्जता

जिस स्त्री के साथ पुरुष ने अनेक वर्षों तक मैत्री रखी है, जिसके दुख से वह दुखी हुआ है, जिसके सुख में उसने भाग लिया है, जिसके साथ भोग-विलास किया है, जिसके साथ चौबीसो घंटो रहा है, क्या उस स्त्री का शरीरांत होने पर पुरुष को, सामान्य मित्र का वियोग होने पर वह जितना शोक मनाता है, उतना भी नही मानना चाहिए ? इग्लैंड में स्त्री को पुनर्विवाह करने की स्वतत्रता है, वहा भी लोक-लज्जा के वशीभूत होकर कुलीन स्त्री को एक वर्ष तक दूसरे पुरुष का साथ करने का साहस नहीं होता। किंतु भारत के पुरुष की कुलीनता अधिकतर श्मशान की सीमा से आगे नही जा सकती। और कभी-कभी तो अपनी पवित्र स्त्री की देह के चिता में भस्म होते समय और श्मशान की हद में ही सगे-संबधी उसके साथ नये विवाह की चर्चा करते हुए नही हिचकिचाते और विधुर हुआ व्यक्ति उसे सुनते

हुए लज्जित नही होता । भारत को इस करुणाजनक स्थिति से निकालना आवश्यक है। मुझे तो विधवा-विवाह के आदोलन मे भी पुरुष की जाने-अजाने स्वार्थपरता ही दिखाई देती है। विधवा को विवाहित करके पुरुष अपनी लज्जा को भूल जाना चाहता है। यदि पुरुष विवधा के वैधव्य के दुख को मानता हो, तो वह स्वय अखड पत्नी-व्रत का पालन कर उस दुख को भुला सकता है। ऐसे विपय मे लोकमत इतना क्षीण हो गया है कि मैंने हिंदुस्तान में सर्वत्र सुशिक्षित एव कुलीन वश के कहे जानेवाले पुरुषो को भी असमान विवाह करते एव विधुर होते ही तत्काल पुनर्विवाह करने मे जरा भी लज्जित न होते देखा है।

स्त्रियों के अधिकार और कर्तव्य

किंतु पुरुष अपने कर्तव्य का पालन करें या न करें, स्त्रिया अपने अधिकार क्यो न प्राप्त करें ? स्त्रियो को मताधिकार अवश्य मिलना चाहिए, किंतु जो स्त्रिया अपने सामान्य अधिकार नही समझती अथवा समझती हुई भी उन अधिकारो की पूर्ति के लिए आवश्यक सामर्थ्य नही रखती, वे मताधिकार प्राप्त करके भी क्या करेंगी ? स्त्रिया मताधिकार भले ही प्राप्त कर लें और भले ही हिंदुस्तान की विधान सभाओ मे जाय, किंतु उनका पहला कर्तव्य पुरुषो की ओर से जान-अजान में होनेवाले अत्याचारो से छुटकारा पाकर भारत को प्रतिष्ठित और वीर्यवान एव ओजस्वी बनाने का है। जब तक अज्ञानी माता अपने-जैसी ही अज्ञानी पुत्री को तत्काल विधुर हुए पुरुष की विपयाग्नि मे होम देने के लिए तैयार है, तभी तक ऐसे पुरुष वियोग दुख के आसू सूख भी नही पाते कि पुनर्विवाह का विचार कर सकते हैं। मेरी तो मान्यता है कि इस प्रकार के सुधार करना स्त्री का अधिकार है, इतना ही नही प्रत्युत यह स्त्री का कर्तव्य है—अपने प्रति, पुरुष के प्रति और भारत के प्रति।

—मो० क० गाधी

'नवजीवन',—१६ मई १९१०

: २ :

भद्र, अहमदाबाद,
ता० २५।२६-११-३४

पूज्य श्री बापूजी की सेवा मे,

आपका ता० २०-११ का तथा भाई श्री किशोरलाल का ता० २१-११ का, ये दोनो पत्र मिले ।

मैं केवल 'टकसाल' में ही टिक नही सकता । यह आदर्श भी नही है। मुझे रुचिकर भी नही है। फिर भी जिनके साथ लबे वर्षों से प्रगाढ मित्रता का सबध हो गया है, उनके कामो का बोझा उठाने पर ही छुटकारा मिल सकता है। इतना ही इस धधे में मैं हू। अवश्य ही उससे पैसे तो मिलते ही हैं। काम के पैसे आते हैं। पैसो के लिए काम नही करता। ऐसी मन स्थिति में सन १९३०—दाडी कूच—से ही धधे को मैंने गौण माना है। म्युनिसिपल अध्यक्ष के रूप मे तथा रत्नागिरि के निवास मे, अर्थात १९३० के नवबर से ही काम का परिमाण २० प्रतिशत रह गया था, और नित्य ७-८ घंटे म्युनिसिपल कार्य मे लगते थे। अभी उससे—जिम्मेवारी से—मुक्त हू, फिर भी दिलचस्पी लेता हू। वे यदि कोई काम बताते हैं अथवा जो हो सकता है वह करता हू। कर्जदार नही हू, किंतु कुछ आमदनी की जा सके तो जिन-जिन भिन्न-भिन्न दिशाओ में खर्च करता हू, जिनमे सस्थाओ की सहायता भी सम्मिलित है, वह पूरा हो सकता है और वकालत छोडकर सारा समय सार्वजनिक सेवा में अर्पित करने के आदर्श को भी सहारा लग सकता है। इस मुद्दे पर अब विस्तार मे नही जाता।

गोशाला और हरिजन आश्रम—इन दोनो के लिए आपकी इच्छा मेरे लिए तो आदेश ही है। मैं पूरा दे तो नहीं सकता, किंतु भीख मागने का प्रयत्न करके ही यदि कुछ दिया जा सकेगा तो अवश्य दूगा। वकालत के सिवा मेरा जो सार्वजनिक सेवा प्रवृत्ति का क्षेत्र है—विशेषकर म्युनिसिपैलिटी—उससे समय मिलना कठिन है, साथ ही सुविधा का अभाव भी है ही। फिर भी यह निश्चित ही है कि मुझे यह बोझा उठाने पर ही छुटकारा मिल सकता है।

आज भाई रणछोडभाई तथा मैं दोनो मिले थे। जो विचार कर लिया है, उसके मुद्दे वताता हूं। यह मान लेना चाहिए कि भाई शकरलाल भी सहमत होगे। एक-दो दिन मे उनसे मिलूगा और फिर लिखूगा।

गोशाला

(१) यदि वार्षिक घाटा एक हजार पचास रुपये तक हो और यदि वह चदा मागकर पूरा न किया जा सके, तो शकरलालभाई, रणछोडभाई तथा मैं, तीनो मिलकर अपनी निज की जिम्मेदारी से पूरा करेंगे। यह व्यवस्था पाच वर्ष के लिए है।

(२) पिंजरापोल तथा अपाहिज पशुओवालो के साथ पूरा सहयोग करना चाहिए, किंतु इसमें अपने किसी भी मूलभूत सिद्धात मे वाधा आने पर उस स्थिति मे सहयोग नही किया जा सकता।

(३) वाहर के जो ट्रस्टी लिये जाय, वे चदा मागने मे अवश्य सहायता करें। स्वय भी दें। किंतु ऊपर वताई रकम तक घाटा होने पर उसमें उनसे अपेक्षा नही रखनी चाहिए। वे स्वय दें तो भले ही दें, किंतु हमें इस अपेक्षा से उन्हें नही लेना चाहिए। और यह वात उन्हे आरभ मे ही स्पष्ट वताकर फिर लेना चाहिए।

हरिजन आश्रम

इसका मासिक व्यय ६००) तक होने का अनुमान है। इसलिए ऊपर वताये अनुसार मासिक पच्चीस प्रतिशत—अर्थात डेढ सौ रुपये तक—तीनो व्यक्ति पाच वर्ष तक के लिए अपने जिम्मे लेते हैं, शेष के लिए दूसरो से चदा मागेंगे। जो दूसरे ट्रस्टी लिये जाय, उनसे हमारी तरह किसी प्रकार के निश्चय की अपेक्षा नही रखनी चाहिए। वे स्वय भले ही दें। वे देंगे तो सही, किंतु उसके लिए शर्त नही रखनी चाहिए।

हरिजन आश्रम मे चप्पल और वूट के सिवा पिकर, वफर तथा फीते भी वनाये जा सकते हैं, स्थानीय मिलो मे इनकी काफी खपत है। ऐसी शाखा खोलने मे इसके स्वावलवी होने की आशा की जा सकती है। उसकी उपयोगिता में वाधा न पडने देकर आय अधिक और खर्च कम हो, इस तरह

काम चलायगे।

इन दोनो ट्रस्टो के सबध में पहले से एक स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। वह यह कि जो सिद्धात आपने रखे हो, उनका तो पालन अवश्य ही किया जायगा, किंतु विचार मे ट्रस्टियो को पूरी स्वतत्रता होनी चाहिए जिससे कि की हुई व्यवस्था के सबध मे जो-जो सशोधन-परिवर्द्धन आवश्यक प्रतीत हों, वे किये जा सकें। कार्यकर्ताओ के साथ मतभेद होने पर ट्रस्टियो की बात मान्य रखना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि काम करने, सूचना देने और उसी प्रकार अमल करने की स्वतत्रता होने पर ही निभाव हो सकता है। निजी तौर एक स्पष्टीकरण कर लेना चाहता हू। यदि पाच वर्ष की अवधि मे आय का साधन—वकालत—छोड दू, तो सहायता की रकम देने के वचन से मुक्ति मिलना तो एक प्रकार से स्वाभाविक ही प्रतीत होगा, फिर भी स्पष्टता के लिए लिख रहा हूं।

अभी कितने ही कामो मे फंसा हुआ हू। १९२६ का एक दावा है। सर चीनूभाई के पुराने काम हैं। इसलिए समय अपेक्षाकृत कम रहता है, किंतु धीरे-धीरे अधिक समय निकाला जा सकेगा।

भाई नरहरिभाई को आपने एक हजार रुपये भिजवाये। उसके साथ जो पत्र लिखा है, उसकी नकल भी चाहिए।

सर चीनूभाई के काम से बबई जाना हो सकता है। वहा जाकर वापस लौट आने पर कुछ स्वस्थता मिल सकेगी, तब सबसे मिलकर पूरी चर्चा करके कुछ निर्णय करूगा। भाई रणछोडभाई अपना मत नीचे ही लिख रहे हैं। अलग पत्र नही लिखेंगे, इसलिए इतने पर ही समाप्त करता हू।

आपके आशीर्वाद से सब सकुशल हैं।

कृपाभिलाषी

ग० वा० मावलंकर के सविनय प्रणाम

पूज्य बापूजी,

हरिजन आश्रम तथा गोशाला के सबध मे मेरे और श्री मावलंकर के पक्का विचार करने के बाद उन्होंने साथ का यह पत्र लिखा है। मैं इनसे पूरी तरह सहमत हू।

र० भा०

: ३ :

पढरपुर
६-५-४७

(१)

पूज्य श्री वापूजी की सेवा में,

पूज्य कस्तूरवा ट्रस्ट की वैठक आगामी मई मे पूना मे होने के कारण पूना आना था। मेरी पत्नी की इच्छा पढरपुर आने की होने के कारण कल यहा आया था। आज वापस पूना जा रहा हू।

श्री साने गुरुजी के उपवास की वात तो समाचार पत्रो मे मालूम हुई थी। किंतु कल यहा आने के वाद साने गुरुजी का दृष्टि-विंदु उनके निकट-वर्ती मित्रो तथा सहकारियो (विशेषकर श्री काकासाहव वर्वे) से मालूम किया। आपके साथ हुआ तार तथा पत्र-व्यवहार भी देखा। मदिर के पूजाधिकारियो (जो 'वडवे' कहलाते है) का दृष्टि-विंदु जानने के लिए उनके साथ भी खूव वात-चीत की। उन्हे समझाने का भी प्रयत्न किया।

पहले तो आशा थी कि ट्रस्टी मडल मे वहुमत-वाले मदिर खुला करने के लिए उनसे तत्काल जो कुछ हो सकेगा, वह करेंगे। किंतु उनका कथन यह रहा कि आपकी सम्मति के विना यदि वे कुछ करेंगे तो वह अनुचित होगा। मैंने कहा—"चाहे किसीके भी प्रयत्न से (वह गुरुजी का उपवास हो या कुछ और) यदि मदिर के द्वार हरिजनो के लिए खुल जाते हैं, तो आपको तो आनद ही होगा। आपको तो हरिजन-प्रवेश प्रिय है और गुरुजी का उपवास उचित है या अनुचित, यह प्रश्न गौण है। इसलिए मैं महात्माजी से पूछे विना ही उनकी ओर से यह विश्वास दिला सकता हू कि गाधीजी आपको यह उलाहना नही देंगे कि उनके पूछे विना मदिर क्यो खोल दिया।" किंतु यह वात उनके गले नही उतरी, इसलिए उनमे से काम करनेवाले ट्रस्टियो मे से जो-जो आपसे मिलने आये थे—रात को लवी चर्चा करने के वाद आपको इसके साथ के परिशिष्ट 'अ'[१] के अनुसार तार भेजने

[१] इस तार का मसविदा यहा नहीं दिया गया।

का निश्चय किया। रात के १२-३० बजे यह निश्चय किया। उनकी सभा रात के ४-३० बजे तक चली। बहुमत नही हो सका। इसका मुख्य कारण तो यह है कि उनका हृदय-परिवर्तन नही हुआ। किंतु उनकी यह भी दलील थी कि महात्माजी का कहना है कि "साने का उपवास भूल भरा है और अब नया कानून बननेवाला है इसलिए हमे अब कुछ भी करना नही है। प्रत्युत साने को उपवास छोडना चाहिए।" मैं समझता हू आपके कथन का यह आशय नही होना चाहिए।

प्रात मुझे इन लोगो की सभा का हाल मालूम हुआ। बाद में जो कुछ हो सके वह करने और आपके अर्थ का अनर्थ किया जाना रोकने की दृष्टि से एव ट्रस्टियो को आपके नाम का सहारा न मिल पाने के उद्देश्य से मैंने आज प्रात आपको एक लबा तार भेजा है। उसकी एक प्रतिलिपि इसके साथ के परिशिष्ट 'ब' में है। मेरा पूना का पता "मारफत डाक्टर रा० न० सरदेसाई, ५३६, नारायण पेठ" है। पूना के पते पर मुझे तार भेजने की आवश्यकता नही है, कारण यहां के मडल के साथ क्षण-क्षण पर बदलने-वाली परिस्थिति में चर्चा एव विचार-विनिमय किये बिना मैं पूना से अधिक बता नही सकूगा। आपका जो तार यहा आयगा, उसकी सूचना यहा का मडल मुझे दे देगा। ता० ११ तक मैं पूना में और १२ को बबई रहूगा। बबई में श्री बालासाहब खेर से मिलूगा। ता० १४ व १५ को कराडी (जि० सूरत), १६ से १८ तक बडौदा (मार्फत, श्री अ० न० महाजन, महाजन पोल, रावपुरा)। किंतु मुझे पत्र लिखने में आपको अपना समय लगाने की आवश्यकता नही है।

भाई पुडलीकजी के हाथ भेजे गये आपके पत्र की भूमिका देखकर यह शका हुई कि यह पत्र उन्हे दिया जाय या नहीं। यदि पहले की आशा के अनुसार ट्रस्टी बहुमत से मान जाते, तो कदाचित पत्र न देने की सलाह देने का साहस करता। किंतु अब तो वह दे ही देना है। लेकिन इसका आशय पत्रो में प्रकाशित न हो, यह आवश्यक है। आपके लिखे का अर्थ अपने अनुकूल निकालकर लोगो में बुद्धि-भेद होता है। वैसा करने के प्रयास किये जाते हैं। और साने गुरुजी के उपवास के विषय में चाहे जिस प्रकार का मतभेद होने पर भी उनकी शुद्धता के विषय मे लोगो में शका पैदा होने

जैसी दुखद स्थिति उत्पन्न होने से परिस्थिति में पेचीदगिया बढती जाना निश्चित है। मुझे ऐसा भी लगता होता है कि साने गुरुजी के विचारो और दलीलो के सबध मे आपके जो कुछ विचार हैं, उनमे कुछ अपूर्णता अथवा गलतफहमी हो सकती है। किंतु यह वस्तु अभी अप्रस्तुत है। ऐसा लगने में मेरी भूल भी हो सकती है।

कल दर्शन करने के लिए मैं तथा मेरे बालक जहा तक हरिजन जा सकते हैं, वही तक गये थे। "हमे हरिजन मानिये"—यही ट्रस्टियो से कहा गया था। मदिर की ओर जाया ही न जाय, यह भी एक विचार था। किंतु जिस व्यक्ति मे मदिर अथवा विठोवा के प्रति श्रद्धा न हो, वह मदिर खुला करने की बात में दिलचस्पी रखे अथवा भाग ले, यह कैसे हो सकता है, इस विचार से ऊपर लिखेनुसार किया। उसमे यदि कुछ भूल हो तो बताने की कृपा कीजिये।

सेवक,
ग० वा० मावलकर के सविनय प्रणाम

पुनश्च

आप साने गुरुजी अथवा किसीको जो-कुछ लिखें, वह समाचार-पत्रो में न जाय और किसी तरह की गलतफहमी और असमजस न हो, यह आवश्यक मानता हू।

ग० वा० मा०

प्रति
महात्मा गांधीजी,
श्री वाल्मीकि मदिर,
नई दिल्ली

(२)

६ मई १९४७ के पत्र में वर्णित परिशिष्ट 'व'

(गाधीजी को पढरपुर से प्रेषित तार का अनुवाद)

महात्मा गाधी,

कल से होनेवाली कस्तूरबा ट्रस्ट की बैठक के लिए पूना आया और कल यहा आया। यदि मदिर के ट्रस्टियो का बहुमत मदिर को खुला करने

के लिए जो कुछ उनके लिए कर सकना संभव है, करने को रजामंद हो जाय, अर्थात बंबई मंदिर पूजा अधिनियम १९३८ के अनुसार मंदिर को खुला करने की अपनी रजामंदी की घोषणा पर हस्ताक्षर कर दे और जिला अदालत में उसके लिए अर्जी दे दे, तो कदाचित साने गुरुजी को उपवास छोड़ने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। किंतु मंदिर के ट्रस्टियों और साने गुरुजी को आपने जो सलाह दी है, ट्रस्टी उसका यह अर्थ लगाते दीखते हैं कि क्योंकि नया कानून बननेवाला है, इसलिए अभी मंदिर खुला करने के लिए कोई कदम उठाने की आवश्यकता नहीं है। मेरा खयाल है कि आपकी नया कानून बनने तक प्रतीक्षा करने की कोई इच्छा नहीं है। वरन साने गुरुजी के उपवास के बावजूद यदि मंदिर खुला करने की तत्काल कार्रवाई की जाय तो आप उसका स्वागत करेंगे। यदि आप पंढरपुर के मंदिर के ट्रस्टियों को तत्काल तार देकर यह निश्चित सलाह दें कि वे साने गुरुजी के उपवास के बावजूद घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करके और जिला मजिस्ट्रेट को अर्जी देकर कदम उठायें, तो स्थिति स्पष्ट हो जायगी और उपवास के प्रश्न का हल निकालने में मदद मिलेगी। यदि आप मंदिर के ट्रस्टियों को कोई तार भेजें तो कृपा कर उसकी एक प्रतिलिपि काका-साहब बर्वे, पंढरपुर को भी भेज दें।

मावलंकर

(३)

नई दिल्ली से ७ मई १९४७ को गांधीजी का भेजा हुआ तार

(अनूदित)

दादा मावलंकर,
सर्विडया,
पूना।

गुरुजी के संबंध में बर्वे को तार दे दिया है। सिद्धप्पा वासप्पा उप-वास कर रहे हैं। इस विषय में कुछ जानकारी नहीं है। जांच करना।

—बापू

(४)

(अंग्रेजी से अनुदीत)

हवाई डाक से

५३६, नारायणपेठ,
पूना, ६ मई १६४७

प्रिय बापूजी,

मैं अंग्रेजी में लिखने के लिए क्षमाप्रार्थी हू, समय बचाने की दृष्टि से ही मैं यह कर रहा हू।

मेरा विश्वास है कि इस पत्र के पहुचने के पहले मेरा पढरपुर से ६ ता० का लिखा और दिल्ली के पते पर भेजा और ८ ता० का पूना से आपके कलकत्ते के पते पर भेजा पत्र आपको मिल गया होगा।

मुझे आपका तार ७ ता० की शाम को देर से मिला। आपके इस तार मे आपने श्री बर्वे को जो तार दिया उसका विवरण नही है, किंतु मैं समझता हू कि (और जैसाकि मैं अब देखता हूं, वह ठीक ही है) आप यही चाहते हैं कि मैंने अपने तार मे जो तरीका सुझाया है, उसी पर आगे बढू।

कल मेरे पास श्री बर्वे का एक सदेशवाहक आया था, जिसने मुझे श्री बर्वे को भेजे गये आपके तार का विवरण सुनाया। और मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता है कि आपके तार का मदिर के ट्रस्टियो पर असर पडा है। वे अब अपने इस व्यवहार पर परेशानी अनुभव करते हैं कि उन्होने सारी जिम्मेदारी साने गुरुजी पर डाल दी थी। अब मैंने जो मार्ग सुझाया था, उस आधार पर मदिर के ट्रस्टियो के हस्ताक्षर करने की कार्रवाई चल रही है और श्री बर्वे के सदेशवाहक के पढरपुर से रवाना होने के समय तक कुल ८३ में से ३० ने हस्ताक्षर कर दिये थे। वह कुछ और भी हस्ताक्षर हो जाने की अपेक्षा करता था, और सारा वातावरण आशाप्रद दिखाई देता है।

श्री ठक्कर बापा और मैं कल प्रात काल ही पढरपुर के लिए रवाना हो रहे हैं। हम रविवार की प्रात ही लौट जायेंगे, क्योकि उस दिन कस्तूरबा ट्रस्ट की बैठक है।

मदिर खुला करने के पक्ष मे जनमत जोर पकड रहा है और वह

लगभग सार्वभौमिक प्रतीत होता है। मैं अनुभव करता हूं कि श्री विट्ठल हमारे साथ हैं। हमारी परीक्षा हो रही है।

मैं कानूनी स्थिति के संबंध मे अपना कोई मत व्यक्त नहीं करना चाहता, कारण इससे मेरे बारे में गलतफहमी हो सकती है और विरोधी लोग मुझ पर कानूनी अर्थ की तोड-मरोड करने का आक्षेप कर सकते हैं। इसके साथ ही, यदि कोई प्रश्न मेरी राय पर ही अटका हुआ हो तो मैं जो बात भी सही समझता हू, उसको प्रकट करने से नही चूकूगा।

हम कार्यकारिणी समिति की बैठक कर रहे हैं। कल हमने प्रांतीय एजेंटों की बैठक की थी।

सादर, आपका
ग० वा० मावलकर

सेवा में
महात्मा गांधी,
सोदपुर आश्रम,
कलकत्ता।

(५)

गांधीजी को पंढरपुर से १० मई १९४७ को प्रेषित तार

(अनूदित)

महात्मा गांधी,

ठक्कर बापा, आप्पासाहब पंत तथा रावसाहब पटवर्धन सहित प्रात यहा पहुंचा। श्री विट्ठल के आशीर्वाद से मंदिर के ट्रस्टियो ने हरिजन पूजा-कानून १९३८ के अंतर्गत घोषणा, कर दी और शपथ-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं और श्री साने गुरुजी ने उपवास तोड़ दिया है।

मेरा आज समाचार-पत्रों को दिया वक्तव्य देखने की कृपा कीजिये। सानेजी का स्वास्थ्य कमजोर है। हृदय पर थोडा-सा असर हो गया है, किंतु चिंता का कोई कारण नही है। कल पूना वापस जा रहा हू।

मावलंकर

(६)

ता० १०-५-४७ को दिया गया वक्तव्य

केंद्रीय विधान सभा के अध्यक्ष माननीय मावलकर ने निम्नलिखित वक्तव्य दिया है :

यह एक बडे सतोष का और सब सबधित व्यक्तियो के लिए बधाई का विषय है कि विट्ठल मदिर पढरपुर की पच समिति ने आज सर्व-सम्मति से निर्णय कर लिया है और बबई हरिजन मदिर पूजा अधिनियम १९३८ के अतर्गत मदिर के हरिजनो के लिए पूजा के लिए खुला करने के लिए आवश्यक घोषणा कर दी है। वह घोषणा जिला अदालत शोलापुर को भेज दी गई है और इस प्रकार अब कानूनी कार्रवाई आरभ हो गई है। श्री साने गुरुजी ने, जिन्होंने मदिरो को हरिजनो को खुला करने के सबध में जनमत-सग्रह केंद्रित करने के लिए पिछले चार महीने अखिल महाराष्ट्र का दौरा किया किया था और विट्ठल मदिर समिति का मदिर खोलने के सबध में दृष्टिकोण बदलने के लिए गत १ मई से उपवास शुरू किया था, वह तोड़ दिया है, क्योकि मदिर समिति वाछित परिणाम के लिए जो कुछ कर सकती थी, वह सब उसने कर दिया है। लाखो स्त्री-पुरुष श्री गुरुजी के जीवन-सबधी चिंता से मुक्त हो गये हैं और और धार्मिक दृष्टिकोण और सामाजिक न्याय की दिशा में हुई भारी प्रगति से प्रसन्नता अनुभव करते हैं। पढरपुर का मदिर सबसे पुराना है और महाराष्ट्र के सब विचारो के हिंदू धर्मावलबियो में अत्यत सम्मानित है और इसलिए ऐसे मदिर का हरिजनो के लिए खोले जा ने का कार्य मदिर के और साथ ही हिंदुत्व की प्रगति और शुद्धि की दृष्टि से एक ऐतिहासिक घटना है।

विट्ठल मदिर के ट्रस्टियो का अनुसरण करके रुक्मिणि-मदिर भी उसी तरह खुला घोषित कर दिया गया।

'मंडल' की कुछ प्रमुख पुस्तकें

आत्मकथा (अजिल्द) (गाधीजी) २॥)
आत्मकथा सक्षिप्त " १)
प्रार्थना-प्रवचन (दो भाग)" ५॥)
गीता-माता " ४)
पद्रह अगस्त के बाद " १॥), २)
दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह ३॥)
आत्म-सयम " ३)
गीता-बोध " ॥)
अनासक्तियोग " ।॥)
ग्राम-सेवा " ।=)
मगल-प्रभात " ।=)
सर्वोदय " ।=)
नीति-धर्म " ।=)
आश्रमवासियो से " ।=)
हमारी माग " १)
सत्यवीर की कथा " ।)
हिंद-स्वराज्य " ।॥)
अनीति की राह पर " १)
बापू की सीख " ॥)
गाधी-शिक्षा (तीन भाग) ।॥≡)
आज का विचार (दो भाग) ।॥)
ब्रह्मचर्य (दो भाग) " १।॥)
गाधीजी ने कहा था (पाच भाग) १)
शांति-यात्रा (विनोबा) १॥)
विनोबा के विचार (दो भाग) ३)
गीता-प्रवचन " १)
जीवन और शिक्षण " २)
स्थितप्रज्ञ-दर्शन " १)
ईशावास्यवृत्ति " ।॥)
ईशावास्योपनिषद् " =)
सर्वोदय-विचार " १=)
स्वराज्य-शास्त्र " ॥)
गाधीजी को श्रद्धाजलि " ।=)
भूदान-यज्ञ (विनोबा) ।)

राजघाट की सनिधि में " ॥=)
विचार-पोथी " १)
सर्वोदय का घोषणा-पत्र " ।)
उपनिषदो का अध्ययन " १)
मेरी कहानी (नेहरू) ८)
मेरी कहानी (सक्षिप्त) " २॥)
हिंदुस्तान की समस्याए " २)
राष्ट्रपिता " २)
राजनीति से दूर " २)
विश्व-इतिहास की झलक (सक्षिप्त) ६)
हिंदुस्तान की कहानी (सक्षिप्त) २॥)
नया भारत १)
आजादी के आठ साल ।)
आत्मकथा (राजेंद्रप्रसाद) ८)
गाधीजी की देन " १॥)
गाधी-मार्ग " =)
महाभारत-कथा (राजाजी) ५)
कुब्जा-सुदरी " २)
शिशु-पालन " ॥)
मैं भूल नहीं सकता (काटजू) २॥)
कारावास-कहानी (सु नैयर) १०)
गाधी की कहानी (लुई फिशर) ४)
भारत-विभाजन की कहानी ४)
इंग्लैंड में गाधीजी २)
बा, बापू और भाई ॥)
गाधी-विचार-दोहन १॥)
सत्याग्रह-मीमासा ३॥)
बुद्ध-वाणी (वियोगी हरि) १)
अयोध्याकाड " १)
भागवत-धर्म (हरिभाऊ) ५॥)
श्रेयार्थी जमनालालजी " ६॥)
स्वतत्रता की ओर " ४)
बापू के आश्रम में " १)

मानवता के झरने (मावलंकर) १॥)
बापू (घ० बिड़ला) २)
रूप और स्वरूप „ ॥=)
ध्रुवोपाख्यान „ ।)
स्त्री और पुरुष (टाल्स्टाय) १)
मेरी मुक्ति की कहानी „ १॥)
प्रेम में भगवान „ २)
जीवन-साधना „ १।)
कलवार की करतूत „ ।)
हमारे जमाने की गुलामी „ ।॥)
बुराई कैसे मिटे ? „ १)
बालकों का विवेक „ ॥)
हम करें क्या ? „ ३॥)
धर्म और सदाचार „ १।)
अंधेरे में उजाला „ १॥)
ईसा की सिखावन „ १)
कल्पवृक्ष (वा० अग्रवाल) २)
साहित्य और जीवन „ २)
कब्ज (म० प्र० पोद्दार) १)
हिमालय की गोद में „ २)
कहावतों की कहानियां „ २)
राजनीति-प्रवेशिका १)
जीवन-संदेश (ख० जिब्रान) १।)
अशोक के फूल ३)
जीवन-प्रभात ५)
कांग्रेस का इतिहास (दो भाग) २०)
पंचदशी १॥)
सप्तदशी २)
रीढ़ की हड्डी १॥)
अमिट रेखाएं ३)
नवप्रभात (नाटक) १)
प्रकाश की बातें १॥)
धरती और आकाश १।)
ध्वनि की लहरें १॥)
मेरी जीवन-यात्रा २)
मील के पत्थर (रामवृक्ष बेनीपुरी) २)
एक आदर्श महिला १)
राष्ट्रीय गीत ।)
तामिल-वेद (तिरुवल्लुवर) १॥)
थेरी-गाथाएं १॥)
बुद्ध और बौद्ध-साधक १॥)
जातक-कथा (आनंद कौ०) २॥)
हमारे गांव की कहानी १॥)
खादी द्वारा ग्राम-विकास ।॥)
कृषि-ज्ञान-कोष ४)
साग-भाजी की खेती ३)
फलों की खेती २॥)
दलहन की खेती १)
ग्राम-सुधार १।)
पशुओं का इलाज ॥)
चारादाना ।)
रामतीर्थ-संदेश (३ भाग) १=)
रोटी का सवाल (क्रोपाटकिन) ३)
नवयुवकों से दो बातें „ ।=)
पुरुषार्थ (डा० भगवानदास) ६)
काश्मीर पर हमला २)
शिष्टाचार ॥)
भारतीय संस्कृति ३॥)
आधुनिक भारत ५)
मैं तंदुरुस्त हूं या बीमार ? ॥)
भा० नवजागरण का इतिहास ३)
गांधीजी की छत्रछाया में १॥) २॥)
भागवत-कथा ३॥)
जय अमरनाथ १॥)
लद्दाख-यात्रा की डायरी २॥)
हमारी लोककथाएं १॥)
पुण्य की जड़ हरी १॥)
समाज-विकास-माला
(८६ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)
संस्कृत-साहित्य-सौरभ
(३२ पुस्तकें) प्रत्येक ।=)